

पाप रूप एक पृथक् गुण है ।^१ यही बात संयोग-विभाग परत्व-अपरत्व और सुख-दुख के सम्बन्ध में कही जा सकती है । यह एक दूसरे के विपरीत तो हैं पर विरोधी नहीं हैं ।

यदि हम विचार करें तो प्रतीत होगा कि यह विवेचन बहुत सूक्ष्म नहीं है । लघुत्व को गुरुत्व का विरोधी तभी माना जा सकता है जबकि गुरुत्व का अर्थ 'भारीपन' किया जाए । किन्तु गुरुत्व का अर्थ 'वजन' भी है और इस स्थिति में लघुत्व, गुरुत्व का विरोधी नहीं प्रत्युत क्रमिक न्यूनांश मात्र है । इसी प्रकार यदि द्रवत्व को संयोग का ही क्रमिक सघनता अंश होने पर भी स्वतन्त्र गुण माना जाए तो मृदुत्व और कठिनत्व को भी स्वतन्त्र गुण ही मानना चाहिए । आलस्य भी स्थिति-स्थापक^२ है और एक स्वतन्त्र गुण है, प्रयत्न का अभाव मात्र नहीं है । बुद्धि के बाद आने वाले नौ गुणों का सम्बन्ध आत्मा से है अतः उनका वर्गीकरण पृथक् होना चाहिए । अतः गुणों का परिगणन और वर्गीकरण वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता ।

द्रव्य और गुण

भाषापरिच्छेद में किस-किस द्रव्य में कौन-कौन-से गुण रहते हैं, इसका भी विवेचन किया है । वायु में स्पर्श आदि ८ गुण और वेग नाम का संस्कार है । तेज में स्पर्श आदि ८ गुण रूप, द्रव्य और वेग हैं । जल में स्पर्श आदि ८, वेग, गुरुत्व, द्रवत्व, रूप, रस तथा स्नेह ये १४ गुण हैं । इन्हीं १४ गुणों में स्नेह को निकाल दें और गन्ध को जोड़ दें तो ये चौदह गुण पृथ्वी में पाये जाते हैं । आत्मा में, बुद्धि आदि ६, संख्या आदि ५, भावना, धर्म और अधर्म—ये १४ गुण हैं । काल और दिशा में संख्या आदि ५ गुण हैं, और आकाश में संख्या आदि पांच और शब्द—ये ६ गुण हैं । ईश्वर में संख्या आदि ५, बुद्धि, इच्छा और यत्न—ये ८ गुण हैं । मन में परत्व अपरत्व संख्या आदि ५, और वेग ये ८ गुण हैं ।^३

१. भाषापरिच्छेदकार ने धर्म तथा अधर्म अदृष्ट के अन्तर्गत माने हैं—धर्माधर्मावदृष्टं स्यात्—भाषापरिच्छेद, १६१.
२. स्थितिस्थापक को यहाँ सामान्य अर्थ में लेना चाहिये, संस्कार के तीन भेदों में से एक भेद नहीं समझना चाहिये ।
३. स्पर्शादयोऽष्टौ वेगाख्यः संस्कारो मरुतो गुणाः ।
अष्टौ स्पर्शादयो रूपं द्रवो वेगश्च तेजसि ॥
स्पर्शादयोऽष्टौ वेगश्च गुरुत्वञ्च द्रवत्वकम् ।
रूपं रसस्तथा स्नेहो वारिण्येते चतुर्दश ॥

इन गुणों का सामान्य और विशेष इन दो भागों में विभाजन किया जाता है। विशेष गुण का दीपिका में यह लक्षण दिया है—द्रव्यविभाजकोपाधिद्वयसमानाधिकरणावृत्ति-द्रव्यकर्मावृत्ति-जातिमान् । जिसका सरल शब्दों में यह अर्थ है कि वह गुण जो एक समय में एक ही द्रव्य में रहे विशेष गुण कहलाता है। सामान्य गुण दो द्रव्यों में या दो से अधिक द्रव्यों में एक साथ रहते हैं। २४ गुणों में से बुद्धि आदि ६, स्नेह, सांसिद्धिक, द्रवत्व, अदृष्ट, भावना और शब्द विशेष गुण माने जाते हैं। संख्या से लेकर अपरत्व तक और असांसिद्धिक द्रवत्व, गुरुत्व तथा वेग ये सामान्य गुण माने गये हैं।

रूप, रस, गन्ध और स्पर्श एकेन्द्रियग्राह्य गुण हैं। संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, द्रवत्व तथा स्नेह, द्वीन्द्रियग्राह्य गुण हैं। गुरुत्व, घर्म, अवर्म और संस्कार अतीन्द्रिय गुण हैं।

उत्क्षेपणावक्षेपणाकुञ्चनप्रसारणगमनानि पञ्च कर्माणि ।

उत्क्षेपण (ऊपर फेंकना), अवक्षेपण (नीचे फेंकना), आकुञ्चन (समेटना) प्रसारण (फैलाना) और गमन (गति)—ये पांच कर्म हैं।

स्नेहहीना गन्धयुताः क्षितावेते चतुर्दश
बुद्ध्यादिषट्कं संख्यादिपञ्चकं भावना तथा ॥
घर्माघर्मौ गुणा एत आत्मनः स्युश्चतुर्दश ।
संख्यादिपञ्चकं कालदिशोः शब्दश्च ते च खे ॥
संख्यादयः पञ्च बुद्धिरिच्छा यत्नोऽपि चेश्वरे ।
परापरत्वे संख्याद्याः पञ्च वेगश्च मानसे ॥

भाषापरिच्छेद, ३०-३४

१. बुद्ध्यादिषट्कं स्पर्शान्ताः स्नेहः सांसिद्धिको द्रवः ॥

अदृष्टभावना शब्दा अमी वैशेषिका गुणाः ।

संख्यादिरपरत्वान्तो द्रवोऽसांसिद्धिकस्तथा ॥

गुरुत्ववेगौ सामान्यगुणा एते प्रकीर्तिताः ।

उपरिवत्, ९०-९२ ।

२. संख्यादिरपरत्वान्तो द्रवत्वं स्नेह एव च ।

एते तु द्वीन्द्रियग्राह्या अथ स्पर्शान्तशब्दकाः ॥

बाह्यैकेन्द्रियग्राह्या गुणत्वादृष्टभावना

अतीन्द्रियाः.....।

उपरिवत्, ९२-९४ ।

(त. दी.) कर्म विभजते—उत्क्षेपणेति । संयोगभिन्नत्वे सति संयोगासम-
वायिकारणं कर्म, कर्मत्वजातिमद्वा ॥ ननु भ्रमणादेरप्यतिरिक्तस्य कर्मणः स्रष्टवत्
पञ्चेत्यनुपपन्नमिति चेत्,—न; भ्रमणादीनामपि गमनेऽतर्भावात् पञ्चविधत्व-
विरोधः ॥

कर्म—

यहाँ कर्मों का विभाजन सर्वथा कणाद के सूत्रानुकूल हुआ है ।^१ दीपिका में गुण की तरह कर्म की भी दो परिभाषाएं दी हैं जिनमें वस्तुतः प्रथम— संयोगभिन्नत्वे सति संयोगासमवायिकारणं कर्म—अधिक उपयुक्त है । कर्म संयोग का असमवायी कारण है परन्तु स्वयं संयोग नहीं है । असमवायी कारण की व्याख्या हम बाद में करेंगे । यहाँ केवल यह कहना पर्याप्त है कि केवल कर्म और कुछ गुण ही द्रव्य या गुणों का असमवायी कारण हो सकते हैं । उदाहरणतः यदि हाथ से पुस्तक को छुएं तो हाथ की गति, हाथ और पुस्तक के संयोग का कारण होगी । किन्तु साथ ही कभी-कभी एक संयोग ही दूसरे संयोग का असमवायी कारण होता है, उदाहरणतः हाथ से पुस्तक छूते समय हाथ और पुस्तक का संयोग शरीर और पुस्तक के संयोग का कारण है । अतः परिभाषा में यह कहा गया है कि संयोग का कारण होने पर भी कर्म स्वयं संयोग नहीं होता ।

कणाद के सूत्रों में कर्म की परिभाषा अधिक विस्तृत है—एकद्रव्यमगुणं संयोगविभागेष्वनपेक्षं कारणमिति कर्मलक्षणम् ।^२ किन्तु इस व्याख्या में कोई नई बात नहीं कही गई केवल यही कहा गया है कि कर्म एक द्रव्य में रहने वाला है किन्तु गुण से भिन्न संयोग विभाग का अनपेक्ष अर्थात् तात्कालिक कारण है । एक द्रव्य कहने का अभिप्राय यह है कि संयोग इत्यादि का निराकरण हो जाए । अनपेक्ष कारण समवायी कारण का ही लगभग दूसरा नाम है । वैशेषिक सूत्र के भाष्य में शंकरमिश्र ने कर्म की और भी अनेक परिभाषाएं दी हैं जिनमें एक उल्लेखनीय है—नित्यावृत्तिसत्तासाक्षाद्ध्यव्याजतिमत्वम् ।^३ अभिप्राय यह है कि कर्मत्व जाति कर्म में रहती है जो कभी स्थायी नहीं

१. उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणं गमनमिति कर्माणि—वैशेषिकदर्शन ।

१. १. ६.

२. उपरिवत्, १. १. १७.

३. उपस्कारभाष्य, वैशेषिकदर्शन, १. १. १७.

होता । सत्ता, द्रव्य, गुण और कर्म तीनों में रहती है किन्तु द्रव्य और गुण तो कभी कभी नित्य होते हैं जबकि कर्म सदा अनित्य होता है ।

कर्म का पाँच भागों में विभाजन पर्याप्त वैज्ञानिक है—भ्रमण, रेचन, स्पन्दन, ऊर्ध्वं उज्ज्वलन, तिर्यग्गमन इत्यादि गमन में ही आ जायेंगे । यह कहा जा सकता है कि इस प्रकार तो उत्क्षेपण आदि भी गमन में ही आ जायेंगे । किन्तु नीलकण्ठ ने यह कहकर इसका समाधान किया है कि ऋषि स्वतन्त्र इच्छा वाले हैं और उनके मत में नियोग पर्यनुयोग अर्थात् प्रश्नोत्तर नहीं हो सकता, अतः यही विभाजन ठीक है । किन्तु इस विभाजन में भी एक वैज्ञानिक आधार है । गति तीन प्रकार की हो सकती है ऊपर से नीचे, नीचे से ऊपर या वक्र । वक्र गति भी दो प्रकार की है—दूरगामी और निकट लाने वाली । और यही चार गतियां यहां दी गई हैं । शेष प्रकार की गतियां गमन में ही अन्तर्भूत हो जाती हैं । अतः कर्म का विभाजन करते समय यादृच्छिक विभाजन नहीं किया गया, प्रत्युत इसका एक वैज्ञानिक आधार मन में रखा गया है ।

परमपरं चेति द्विविधं सामान्यम् ॥

पर और अपर—दो प्रकार का सामान्य है ।

(त. दी.) सामान्यं विभजते—परमिति । परमधिकदेशवृत्ति । अपरं न्यूनदेशवृत्ति । सामान्यादिचतुष्टये जातिर्नास्ति ॥

परमपरञ्चेति—आगे चलकर अन्नम्भट्ट सामान्य की परिभाषा यह देते हैं—नित्यमेकमनेकानुगतम् । उनके अनुसार सामान्य द्रव्य गुण और कर्म तीन में रहता है । इसकी तीन विशेषतायें हैं—१. यह नित्य है, २. यह एक है, ३. यह अनेकों में रहता है । यद्यपि संयोग और द्वित्व आदि अनेक में रहते हैं, किन्तु नित्य नहीं हैं । अणु नित्य भी है और अनेकों में भी रहता है किन्तु एक नहीं है । अत्यन्ताभाव नित्य भी है, एक भी है और अनेक में भी रहता है किन्तु वह अनुगत नहीं है । अनुगतम् का अर्थ है 'समवेतम्' और इसीलिये अत्यन्ताभाव समवेत न होने के कारण सामान्य नहीं है । सामान्य की कुछ और भी परिभाषाएं दी गई हैं जैसे 'नित्यत्वे सत्यनेकसमवेतत्वम्' तथा 'नित्यत्वे

१. न चोत्क्षेपणादीनां गमनेऽतर्भावोस्त्विति शङ्कनीयम् । स्वतन्त्रेच्छस्य नियोग-पर्यनुयोगानहंस्य ऋषेः सम्मतत्वादिति भावः ।

सति स्वाश्रयान्बोन्वाभावसमानाधिकरणम्' इन सभी परिभाषाओं की अपेक्षा दीपिका की परिभाषा ही ठीक है। किन्तु इससे इतना सिद्ध अवश्य होता है कि सभी परवर्ती नैयायिक सामान्य को मानते हैं। कणाद ने सामान्य और विशेष की परिभाषा बुद्धिसापेक्ष बतलाई है—सामान्यं विशेष इति बुद्ध्यपेक्षम्^१। अर्थात् वही गुण यदि एक व्यक्ति में रहने वाले गुण की दृष्टि से देखा जाय तो विशेष है। उदाहरणतः यदि मैं एक गज देखूँ किन्तु अन्य गजों की सत्ता से परिचित न होऊँ तो गज मेरे लिये विशेष ही रहेगा सामान्य नहीं होगा। इसी प्रकार यदि घटत्व सब घटों में रहने वाला माना जाय, तो सामान्य है, किन्तु यदि इसे पटादि अन्य वस्तुओं से पृथक् करने वाला माने तो विशेष है। मूलतः तो सामान्य और विशेष का विवेचन सापेक्ष ही रहा होगा किन्तु बाद में इसकी निरपेक्ष स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार कर ली गई।

सामान्य के भेद—

बाद में सामान्य को जाति मानकर एक पृथक् रूप दे दिया गया। सामान्य के दो रूप—पर और अपर—माने गये हैं और उदाहरण के रूप में क्रमशः सत्ता और द्रव्यत्व को दिया गया है। किन्तु यह पर और अपर सापेक्ष हैं। सत्ता की अपेक्षा द्रव्यत्व अपर है पर घटत्व की अपेक्षा द्रव्यत्व पर है। कुछ ने सामान्य के तीन भेद माने हैं। उदाहरणतः तर्कामृत में व्यापक, व्याप्य और व्याप्यव्यापक ये तीन प्रकार के सामान्य माने हैं। सत्ता व्यापक है, घटत्व व्याप्य, और द्रव्यत्व व्याप्य-व्यापक। इस प्रकार पर और अपर का विभाजन जो सापेक्ष है, तर्कामृत में निरपेक्ष रूप से तीन भागों में बाँट दिया गया।^२ वाक्यविवृति टीका में

१. वैशेषिकदर्शन, १. २. ३.

२. वस्तुतः यह विवेक अथल्ये और बोझास ने किया है। किन्तु यहां उन्हें कुछ भ्रान्ति हो गयी प्रतीत होती है। पर, अपर रूप में सामान्य का विभाजन स्वीकार करने वाला वर्ग भी परापर नामक एक तृतीय प्रकार स्वीकार करता है जो कि तर्कामृत के व्याप्यव्यापक नामक प्रकार का समानान्तर है। तुलनीय भाषापरिच्छेद, ८-९. ।

सामान्यं द्विविधं प्रोक्तं परञ्चापरमेव च ।

द्रव्यादिकत्रिकवृत्तिस्तु सत्ता परतयोच्यते ॥

परभिन्ना तु या जातिः सैवापरतयोच्यते ।

द्रव्यादिकजातिस्तु परापरतयोच्यते ॥

'परम्परञ्चेति' यहाँ आने वाले इति शब्द की व्याख्या इस प्रकार दी गई है—अत्रेतिशब्दस्य स्वसमभिव्याहृत—पदार्थतावच्छेदक—परत्वापरत्वरूप—द्विप्रकारवत्सामान्यमिति वाक्यार्थः ।

जाति और उपाधि—

सामान्य के दो भाग किये जाते हैं—अखंड और सखंड । अखंड जाति है सखंड उपाधि । पहला साक्षात् रूप से सम्बद्ध सामान्य है, दूसरा परम्परया सम्बद्ध सामान्य^१ । द्रव्यत्व कर्मत्व प्रथम के उदाहरण हैं, प्रमेयत्व और दण्डित्व दूसरे के हैं । अभिप्राय यह है कि द्रव्यत्व द्रव्य से सीधा सम्बद्ध है, किन्तु दण्डि का दण्डित्व से सम्बन्ध दण्ड के माध्यम से ही है; यदि दण्डसंयोग हट जाये तो दण्डित्वधर्म भी हट जायेगा । अतः यह परम्परया सम्बन्ध है, द्रव्य और द्रव्यत्व के बीच कोई ऐसा माध्यम नहीं है ।^२ प्रत्येक सामान्य गुण जाति नहीं होता यद्यपि बहुत से व्यक्ति अन्धे, लंगड़े या काले हो सकते हैं ये जाति नहीं कहलाएंगे । उदयनाचार्य ने निम्नकारिका में छः कारण दिये हैं जिनके कारण एक सामान्य गुण भी जाति नहीं बन सकता—

व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं संकरोऽथानवस्थितिः ।

रूपहानिरसंबन्धो जातिबाधकसंग्रहः ॥

१. जो पदार्थ एक ही हो, वह जाति नहीं बनाता जैसे आकाशत्व जाति नहीं है । २. जो पदार्थ एक ही हों उनकी पृथक्-पृथक् जाति नहीं होती जैसे घटत्व और कलशत्व पृथक्-पृथक् जाति नहीं हो सकती । ३. जिन गुणों में परस्पर सकर हो वे जाति नहीं बनाते जैसे भूतत्व और मूर्तत्व । आकाश भूत है और मूर्त नहीं है और मनस् मूर्त है पर भूत नहीं है, जबकि आकाश के अतिरिक्त शेष चारों तत्त्व भूत भी हैं और मूर्त भी । ४. स्वयं जाति की जाति नहीं होती । अन्यथा अनवस्था दोष आ जाएगा । ५. विशेष की विशेषत्व जाति नहीं होती । क्योंकि विशेष का स्वरूप ही ऐसा है कि वह जाति के

१. साक्षात्सम्बद्धमखण्डसामान्यं जातिः; परम्परया सम्बद्धं सखण्डसामान्य-मुपाधिः । तर्ककिरणावली, पृ. २२.

२. किरणावली, पृ. १६१.

दूसरे नित्य पदार्थ से पृथक् करने के लिए विशेष की भी पदार्थ मानना आवश्यक है। सिद्धान्तचन्द्रोदय में विशेष की आवश्यकता इन शब्दों में बतलाई गई है—घटावीनां कपालसमवेतत्वाविकं पटाविभेदकमस्ति परमाणूनां तु परस्परभेदकं न किञ्चिदस्त्वतो नायस्या विशेष आश्रयितव्यः। घट पट से इस-लिए पृथक् है कि घट के अवयव पट के अवयव से भिन्न हैं। और इस प्रकार अवयव का भेद होने से अवयवी का भी भेद मान लें तो अन्ततोगत्वा हमें परमाणु आकर रुकना पड़ेगा क्योंकि परमाणु का तो कोई अवयव होता नहीं। फिर एक परमाणु को दूसरे परमाणु से कैसे पृथक् किया जाए? अतः इस समस्या का समाधान करने के लिए परमाणु में विशेष की सत्ता मानने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं है।

विशेष पदार्थ की सत्ता का यह सिद्धान्त वैशेषिकदर्शन का इतना महत्वपूर्ण अंग है कि इसके आधार पर इस दर्शन का नाम ही वैशेषिक दर्शन पड़ गया यद्यपि कणाद ने इस पर इतना अधिक बल नहीं दिया। केवल एक सूत्र—अन्यत्रान्त्येभ्यो विशेषेभ्यः^१—में इसका उल्लेख किया है। उन्होंने यह बतलाया है कि यह विशेष पदार्थों के परमाणुओं में रहता है। इसी स्थल पर प्रशस्तपाद ने विशेष के सिद्धान्त का ऊहापीठ-पूर्वक प्रतिपादन किया जिसका बहुत से नव्यनैयायिकों ने खण्डन भी किया, यद्यपि वे नव्यनैयायिक अन्यथा वैशेषिक दर्शन के सिद्धान्तों को मानते हैं। उनका यह कहना है कि यदि एक परमाणु को दूसरे परमाणु से पृथक् मानने के लिये विशेष की आवश्यकता है तो एक विशेष को दूसरे विशेष से पृथक् मानने के लिये भी एक पदार्थ की आवश्यकता पड़ेगी। यदि यह कहा जाए कि स्वयं विशेषों में ही एक ऐसी शक्ति है कि वे एक दूसरे से पृथक् हो जाते हैं, तो यह शक्ति परमाणुओं में ही क्यों न मान ली जाए; यदि ऐसी शक्ति माननी ही है तो विशेष की अतिरिक्त सत्ता मानने की कोई आवश्यकता नहीं। किन्तु इस आक्षेप का प्रशस्तपाद ने पहले ही अपने भाष्य में उत्तर देने का प्रयत्न किया है यद्यपि वह उत्तर बहुत सन्तोषजनक नहीं है। प्रशस्तपाद के भाष्य से इस सम्बन्ध में प्रस्तुत प्रसंग उद्धृत किया जाता है—अथान्यविशेषेत्त्विव परमाणुषु कस्मान्न स्वतः प्रत्ययव्यावृत्तिः प्रत्य-भिज्ञानं वा कल्प्यत इति चेन्न तादात्म्यात्। इह तादात्म्यनिमित्तप्रत्ययो

विरुद्ध है । ६. जो परस्पर असम्बद्ध हों उनकी जाति नहीं हो सकती । जैसे समवायत्व ।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाएगा कि अन्नम्भट्ट ने द्रव्य, गुण और कर्म की जाति मानी है अन्तिम चार पदार्थों की नहीं । द्रव्य में भी कुछ ऐसे द्रव्य हैं—जैसे आकाश या काल—जिनकी जाति नहीं हो सकती । फलतः उपाधि वह गुण है जो अनेक व्यक्तियों में रहता हो जबकि जाति एक विशेष प्रकार की उपाधि है जो ऊपर दी गई शर्तें पूरी होने पर ही हो सकती है । उदाहरणतः यदि सौ व्यक्तियों का हम उनकी राष्ट्रीयता, भाषा, और शिक्षा के अनुसार वर्गीकरण करें तो एक ही व्यक्ति भाषा की दृष्टि से एक वर्ग में, वर्ण की दृष्टि से दूसरे वर्ग में, और राष्ट्रीयता की दृष्टि से अन्य वर्ग में आएगा, अतः यह वर्गीकरण नहीं बन सकता । मनुष्य एक जाति अवश्य है क्योंकि वह आकृतिग्राह्य है किंतु काला एक जाति नहीं है क्योंकि उसमें मनुष्य के अतिरिक्त काले पशुओं को भी लेना पड़ेगा । इस प्रकार भारतीय न्यायशास्त्र में जाति और उपाधि का यह सूक्ष्म भेद दिया गया है और यह उसकी एक विशेष देन है ।

नित्यद्रव्यवृत्तयो विशेषास्त्वनन्ता एव ॥

नित्य द्रव्यों में रहने वाले विशेष तो अनन्त ही हैं ।

(त. दी.) विशेषं विभजते—नित्येति । पृथिव्यादिचतुष्टयस्य परमाणव आकाशादिपञ्चकञ्च नित्यद्रव्याणि ॥

कणाद विशेष को अन्त में रहने के कारण अन्त्य कहते हैं । अन्त्य का अर्थ है कि वह अवसान में रहने वाला है । आगे चलकर अन्नम्भट्ट बतलाएंगे कि विशेष वह है जो नित्य पदार्थों में रहता है और उन्हें एक दूसरे से पृथक् करता है । ये विशेष अनन्त हैं क्योंकि प्रत्येक नित्य पदार्थ के अपने-अपने पृथक्-पृथक् हैं । विशेष की दूसरी परिभाषा है—स्वतो व्यावर्तकत्वम् । अर्थात् जो स्व से स्व को पृथक् करे । विशेष सजातीय परमाणुओं में परस्पर भेदसिद्धि के लिये माना जाता है । पृथ्वी, जल, तेज, और वायु के परमाणुओं में और आकाश, काल, दिग्, आत्मा और मन में विशेष रहता है । विशेष की कुछ अन्य परिभाषाएं हैं—जातिरहितत्वे सति नित्य-द्रव्यमात्रवृत्तिः, एकमात्रसमवेतत्वे सति सामान्यशून्यः, तथा अत्यन्तव्यावृत्तिः । इन सभी परिभाषाओं का एक ही तात्पर्यार्थ है कि एक नित्य पदार्थ को

भवति यथा घटाद्विषु प्रदीपात् । न तु प्रदीपे प्रदीपात् । यथा च श्वमांसादीनां स्वत एवाशुचित्वं तद्योगादन्येषां तथेहापि तादात्म्यादन्यविशेषेषु स्वत एव प्रत्ययव्यावृत्तिस्तद्योगात्परमाण्वादिविधिति ।^१ इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि विशेष का सिद्धान्त नव्यनैयायिक, भ्राट्ट और प्राभाकर मीमांसक स्वीकार नहीं करते और न वेदान्ती ही उसे मानते हैं ।

समवायस्त्वेक एव ॥

समवाय तो एक ही है

(त. दी.) समवायस्य भेदो नास्तीत्याह—समवायस्त्विति ॥

समवाय का शब्दार्थ है घनिष्ठ सम्बन्ध या दो वस्तुओं का परस्पर एक दूसरे के निकट आना । यह ऐसे घनिष्ठ सम्बन्ध को बतलाता है जो उन दो वस्तुओं में रहता है जिनका सम्बन्ध बिना उन्हें नष्ट किये नहीं नष्ट किया जा सकता । आगे चलकर अलम्भट्ट समवाय की परिभाषा देते हुए यह बतलाएंगे कि समवाय उन दो पदार्थों में, जो सदा अविभक्त रहते हैं, रहने वाला नित्य सम्बन्ध है । यहां समवाय को नित्य सम्बन्ध कहा गया है क्योंकि संयोग एक गुण है और अनित्य है । अयुतसिद्ध उन पदार्थों को बतलाता है जो एक दूसरे पर अवलम्बित रहने हैं जैसे घट और कपाल या गुण और गुणी । अयुतसिद्ध का विपरीतार्थक है युतसिद्ध अर्थात् जो परस्पर मिले हुए हैं या एक दूसरे से पृथक् हैं । यु घातु के दोनों अर्थ हैं जोड़ना और पृथक् करना । किन्तु इससे युतसिद्ध शब्द के अर्थ में कोई अन्तर नहीं आता । यदि युतसिद्ध का अर्थ यह लें कि जोड़ दिये गये हैं तो भी यही अर्थ निकलेगा कि वे कभी पृथक्-पृथक् थे और यदि युत शब्द का यह अर्थ लें कि जो पृथक् हैं तो भी यही अर्थ निकलेगा कि किसी अवस्था में ये पृथक् थे । इसके विपरीत अयुतसिद्ध वे पदार्थ हैं जो किसी भी अवस्था में पृथक्-पृथक् नहीं थे । घट के दो कपाल कभी पृथक्-पृथक् थे, और अब भी पृथक्-पृथक् किये जा सकते हैं, अतः उनका सम्बन्ध संयोग सम्बन्ध है । किन्तु घट उन कपालों से पृथक् न कभी था और न कभी हो सकता है । अतः घट और कपाल का सम्बन्ध समवाय सम्बन्ध है ।

अयुतसिद्ध सम्बन्ध पांच प्रकार से सम्भव है। १. अवयव और अवयवी में, २. गुण और गुणी में, ३. क्रिया और क्रियावान् में, ४. जाति और व्यक्ति में, ५. विशेष और उसके अधिकरण नित्य द्रव्य में। कणाद ने समवाय की जो परिभाषा दी है वह अधिक सरल और कम विस्तृत है—इहेदमित्ति यतः कार्यकारणयोः स समवायः।^१ ऐसा प्रतीत होता है कि परवर्ती आचार्यों ने इस प्रारम्भिक परिभाषा को पल्लवित पुष्पित किया।

अन्नम्भट्ट ने यहां समवाय को केवल एक ही बतलाया है और ऐसा बलपूर्वक कहा है—समवायस्त्वेक एव। ऐसा अन्नम्भट्ट ने जानबूझ कर किया है क्योंकि प्राभाकर भीर्मांसक और नव्यनैयायिकों में कुछ लोग ऐसा नहीं मानते। नव्यनैयायिकों में कुछ लोग समवाय को नित्य भी नहीं मानते। समवाय का नित्यत्व यह कहकर सिद्ध किया जाता है कि भावकार्य केवल उपादान कारण में ही समवाय सम्बन्ध से उत्पन्न होते हैं। यदि ऐसा माने तो समवाय भी उत्पन्न होने के लिए एक अन्य समवाय की अपेक्षा रखेगा और इस प्रकार अनवस्था दोष आ जाएगा। अतः समवाय को अनुत्पाद्य अर्थात् नित्य मानना चाहिए। हां, यह नित्यत्व परमाणु के नित्यत्व की भांति एकांत नहीं प्रत्युत आपेक्षिक है। समवाय के नित्य होने का यह अर्थ है कार्य को उत्पन्न किये बिना न इसे उत्पन्न किया जा सकता है और कार्य को नष्ट किये बिना इसे नष्ट भी नहीं किया जा सकता। यहां नैयायिकों और वैशेषिकों में, जिन्हें सिद्धान्तचन्द्रोदयकार प्राचीन और नव्य के नाम से पुकारते हैं, मतभेद है। नैयायिकों का कहना है कि समवाय प्रत्यक्ष है, अतः उसके लिये किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं किन्तु वैशेषिक, जिनमें अन्नम्भट्ट भी सम्मिलित हैं, समवाय को प्रत्यक्ष नहीं मानते। वे इसका यह कारण देते हैं कि कभी-कभी जिन दो पदार्थों में समवाय होता है, उनमें से एक परोक्ष होता है। उदाहरणतः आकाश शब्द का समवाय कारण है और स्वयं प्रत्यक्ष नहीं है। अतः समवाय प्रत्यक्ष नहीं है। प्रत्युत अनुमेय है। अन्नम्भट्ट आगे चलकर अपनी टीका में इसका विवेचन करते हैं।

न्यायदर्शन में समवाय का बहुत अधिक महत्त्व है। उनका सारा कार्यकारण सिद्धान्त इसी पर आधारित है और यही सिद्धान्त उन्हें वस्तुवादी बनाता है। वेदान्त के मायावाद के विरोध में नैयायिकों का विशेष मत वस्तुवाद ही है। अतः सांख्य और वेदान्त में इस सिद्धान्त का विस्तारपूर्वक खण्डन

किया गया है। भाट्ट मीमांसक भी समवाय का खंडन करने में वेदान्तियों का साथ देते हैं। नैयायिकों का परमाणुवाद भी समवाय के सिद्धान्त पर आधारित है। ब्रह्मसूत्र की टीका में शङ्कराचार्य ने समवाय सिद्धान्त का खण्डन किया है। उनका कहना है कि जब समवाय दो भिन्न पदार्थों का सम्बन्ध है, तो यह संयोग ही हुआ। यदि संयोगी द्रव्यों में संयोग समवाय सम्बन्ध से रहता है, तो समवायी द्रव्यों में समवाय सम्बन्ध से रहेगा और इस प्रकार अनवस्था दोष आ जाएगा। नैयायिकों का कहना है कि समवाय गुण नहीं है प्रत्युत पदार्थ है और समवाय समवायियों में समवाय सम्बन्ध से नहीं रहता, प्रत्युत तादात्म्य सम्बन्ध से रहता है। वेदान्तियों का कहना है कि यदि ऐसा है तो संयोग और संयोगी में भी तादात्म्य सम्बन्ध क्यों न मान लिया जाये। संयोग गुण है और समवाय पदार्थ है ऐसा कहना सर्वथा आधाररहित है। यह कहना भी गलत है कि समवाय नित्य होने के कारण संयोग से पथक् है क्योंकि कोई-कोई संयोग भी नित्य होते हैं, उदाहरणतः परमाणु का काल या आकाश से संयोग नित्य है जबकि समवाय वस्तुतः नित्य नहीं है क्योंकि कार्य के नष्ट हो जाने पर वह भी नष्ट हो जाता है। मूल प्रश्न यह है कि यदि समवाय का कार्य और कारण से तादात्म्य माने तो या कार्य का ही कारण से तादात्म्य मानना अधिक सरल नहीं रहेगा? इसमें लाघव है। अतः वेदान्त और सांख्य कार्य और कारण में समवाय सम्बन्ध नहीं मानते प्रत्युत तादात्म्य सम्बन्ध मानते हैं। शङ्कराचार्य ने अयुतसिद्ध सिद्धान्त का भी जमकर खण्डन किया है। उनका कहना है कि यह कहना कि कार्य और कारण अयुतसिद्ध हैं, इस सिद्धान्त के विरुद्ध जाएगा कि कारण कार्य में ही रहता है। वस्तुतः कारण और कार्य एक ही है, समवाय सम्बन्ध द्वारा सम्बद्ध दो भिन्न पदार्थ नहीं। अतः नैयायिकों का वस्तुवादी दृष्टिकोण कल्पना पर आधारित है। यह विवाद भारतीय दर्शन के प्रौढ़ ग्रन्थों में विस्तारपूर्वक चलता है। किन्तु यहां इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि नैयायिकों के कार्यकारण सिद्धान्त का मूल आधार समवाय का सिद्धान्त है।

**अभावश्चतुर्विधः—प्रागभावः प्रध्वंसाभावोऽत्यन्ताभावोऽन्योन्याभाव-
श्चेति ॥**

अभाव चार प्रकार का है—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव

(त. दो) अभावं विभजते—अभावेति ।

अभाव—

यहां अभाव के चार भेद बतलाये गये हैं। प्रागभाव वस्तु की उत्पत्ति से पूर्व रहने वाला अभाव है। प्रध्वंसाभाव वस्तु के नष्ट हो जाने पर होने वाला अभाव है। अत्यन्ताभाव वस्तु का आत्यन्तिक अभाव है, और अन्योन्याभाव पारस्परिक अभाव। कई ग्रन्थों में इन चार अभावों को दो मूल भागों में विभाजित कर दिया है। संसर्गाभाव और अन्योन्याभाव। प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव और अत्यन्ताभाव। संसर्गाभाव के तीन रूप हैं। जब हम कहते हैं—इह भूतले घटो नास्ति—उस समय हम भूतल से घट के संसर्ग का अभाव बतलाते हैं। इसी प्रकार प्रागभाव या प्रध्वंसाभाव भी अधिकरण में पदार्थ का अभाव बतलाते हैं। जबकि अन्योन्याभाव दो पदार्थों का पारस्परिक अभाव बतलाता है। वस्तुतः अन्योन्याभाव दो संसर्गाभावों को मिलाकर बनता है—घटः पटो नास्ति इसके दो अर्थ हैं—घटे पटत्वं नास्ति और पटे घटत्वं नास्ति। अन्योन्याभाव में दोनों पदार्थ समानाधिकरण होते हैं और प्रथमा में रखे जाते हैं जबकि संसर्गाभाव में एक अधिकरण होता है, एक आधेय।

लक्षण—

अभाव का एक लक्षण है भावभिन्न। सिद्धान्तचन्द्रोदय में अभाव का लक्षण दिया है—प्रतियोगिज्ञानाधीनविषयत्वम्। सिद्धान्तमुक्तावली में अभाव का लक्षण दिया है—द्रव्यादिषट्कान्योन्याभावत्वम्^१। प्रथम लक्षण का यह अभिप्राय है कि अभाव वह है जिसका ज्ञान उसके प्रतियोगी अर्थात् विरोधी पदार्थ के ज्ञान पर आधारित हो और दूसरी परिभाषा का यह अर्थ है—छः द्रव्यों का पारस्परिक निषेध अर्थात् जो छहों द्रव्यों से पृथक् है। किन्तु इस दूसरी परिभाषा में यह दोष है कि यहाँ अन्योन्याभाव शब्द आ गया है जो कि स्वयं अभाव का ही एक भेद है। सर्वदर्शनसंग्रह में अभाव का यह लक्षण दिया है—असमवायत्वे सत्यसमवायित्वम्^२ अर्थात् न अभाव स्वयं समवाय सम्बन्ध से कहीं रहता है, न अभाव में कोई समवाय सम्बन्ध से रहता है। नैयायिकों का कहना है कि अभाव प्रत्यक्षगम्य है और विशेषणता सम्बन्ध से अधिकरण

१. भाषापरिच्छेद, सिद्धान्तमुक्तावली, पृ० ३३

२. सर्वदर्शनसंग्रह, पृ १०९

से सम्बद्ध रहता है। अर्थात् जब हम कहते हैं—घटाभाववद्भूतलम्—तो हमारा यह अभिप्राय होता है कि भूतल घटाभाव विशिष्ट है। इस प्रकार नैयायिकों ने अभाव की कल्पना करके व्यावहारिक उपयोग के लिये एक सुविधा बना ली। वस्तुस्थिति यह है कि अभाव की गणना पदार्थ में हो ही नहीं सकती। क्योंकि अभाव शेष छः पदार्थों का सर्वथा विरोधी है। हां अभाव को इस शाब्दिक अर्थ में पदार्थ अवश्य माना जा सकता है कि वह 'अभाव' पद का अर्थ है। किन्तु इसकी कोई वास्तविक स्थिति नहीं है। और इसके भेद भी केवल भाषा की सुविधा के लिए हैं। वे आरोपित हैं, वास्तविक नहीं। उदाहरणतः घटाभाव और पटाभाव में कोई वास्तविक भेद नहीं है। यह कहना कि जहाँ पट हो वहाँ भी घटाभाव रहता है और जहाँ घट हो वहाँ भी पटाभाव रहता है, अतः घटाभाव और पटाभाव परस्पर भिन्न हैं, ठीक नहीं होगा। क्योंकि वास्तविक भेद घट और पट में है जिसका आरोप हम घटाभाव और पटाभाव में कर रहे हैं। अभिप्राय यह है कि अभाव भूतल का कोई विशेषण नहीं हो सकता। जैसा कि वेदान्तियों का कहना है, अभाव पदार्थ नहीं है केवल कैवल्य रूप है। अर्थात् यह भूतल को केवल भूतल के रूप में बतलाता है। इससे अधिक कुछ नहीं।

कणाद ने अपने सूत्रों में अभाव को गिनवाया भी नहीं है। किन्तु टीकाकारों ने कणाद के अन्य सूत्रों में जैसे—कारणाभावात् कार्याभावः^१ और असति क्रियागुणव्यपदेशाभावादर्थान्तरम्^२—में अभाव शब्द को देखकर अभाव को एक पृथक् पदार्थ मान लिया। उदयनाचार्य ने किरणावलि में अभाव को सूत्र में न गिनने का यह कारण दिया है—एते च पदार्थाः प्रधानतयोद्दिष्टा अभावस्तु स्वरूपवानपि नोद्दिष्टः प्रतियोगिनिरूपणाधीननिरूपणत्वात् न तुच्छत्वात्^३। किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि अभाव की स्वतन्त्र सत्ता है। इतना निश्चित है कि चाहे तात्त्विक दृष्टि से अभाव की सत्ता न हो किन्तु व्यवहार के लिए इसकी सत्ता मान कर चलने से तात्त्विक पद्धति में बहुत सुविधा हो जाती है। अभाव, प्रतियोगी और अनुयोगी कुछ ऐसे ही शब्द हैं जिनकी वास्तविक सत्ता

१. वैशेषिकदर्शन, १. २. १.

२. उपरिवत्, ९. १. ३.

३. बोडास और अथल्ये, तर्कसंग्रह, पृ १०२ पर उद्धृत

चाहे नहीं है, किन्तु जिनका प्रयोग भारत के सभी दार्शनिकों ने किया है और इससे उन्हें बहुत सुविधा भी हुई है ।

गन्धवती पृथिवी । सा द्विविधा—नित्यानित्या च । नित्या परमाणुरूपा । अनित्या कार्यरूपा । पुनस्त्रिविधा—शरीरेन्द्रियविषय-भेदात् । शरीरमस्मदादीनाम् । इन्द्रियं गन्धग्राहकं घ्राणं नासाग्रवर्ति । विषयो मृत्पाषाणादिः ॥

गन्धवती (जिसमें गन्ध समवाय सम्बन्ध से हो) पृथ्वी है । वह दो प्रकार की है—नित्य और अनित्य । नित्य परमाणुरूप है । अनित्य कार्य (घटादि) रूप । फिर वह (?)^१ तीन प्रकार की है—शरीर, इन्द्रिय और विषय । शरीर हमारा (पार्थिव प्राणियों का) है । इन्द्रिय गन्ध को ग्रहण करने वाली घ्राणेन्द्रिय है जो नासिका के अग्रभाग में स्थित है । विषय मिट्टी पत्थर आदि हैं ।

(त. वी.) तत्रोद्देशादिक्रमानुसारात्पृथिव्या लक्षणमाह—गन्धवतीति । नाम्ना पदार्थसंकीर्तनमुद्देशः । उद्देशक्रमे च सर्वत्रच्छेद्व नियामिका । ननु सुरभ्य-सुरभ्यवर्षवारब्धे द्रव्ये परस्परविरोधेन गन्धानुत्पादादव्याप्तिः । न च तत्र गन्धप्रतीत्यनुपपत्तिरिति वाच्यम् ; अवयवगन्धस्यैव तत्र प्रतीतिसंभवेन चित्र-गन्धानङ्गीकारात् ॥ किञ्चोत्पन्नविनष्टघटादावव्याप्तिरिति चेत्, न ; गन्धसमा-नाधिकरणद्रव्यत्वापरजातिमत्त्वस्यैव विवक्षितत्वात् । ननु जलादावपि गन्धप्रती-तेरतिव्याप्तिरिति चेत्,—न ; अन्वयव्यतिरेकाभ्यां पृथिवीगन्धस्यैव तत्र भानाङ्गी-कारात् । ननु तथापि कालस्य सर्वाधारतया सर्वेषां लक्षणानां कालेऽतिव्याप्तिरिति चेत्—न ; सर्वाधारताप्रयोजकसंबन्धिभिन्नासंबन्धेन लक्षणस्याभिमत्तत्वात् ॥

पृथिवीं विभजते—सा द्विविधेति । नित्यत्वं ध्वंसाप्रतियोगित्वम् । ध्वं-स-प्रतियोगित्वमनित्यत्वम् ॥ प्रकारान्तरेण विभजते—पुनरिति । आत्मनो भोगा-यतनं शरीरम् । यदवच्छिन्नमात्मनि भोगो जायते तद्भोगायतनम् । सुखदुःखान्य-तरसाक्षात्कारो भोगः ॥ शब्देतरौद्भूतविशेषगुणानाश्रयत्वे सति ज्ञानकारणमनः-संयोगाश्रयत्वमिन्द्रियत्वम् । शरीरेन्द्रियभिन्नो विषयः । एवञ्च गन्धवच्छरीरं पार्थिवशरीरम्, गन्धवेन्द्रियं पार्थिवेन्द्रियम्, गन्धवान्विषयः पार्थिवविषय

१. यहाँ अर्थ में मतभेद है । हिन्दी व्याख्या देखिये पृ० २६-२७ ।

इति तत्तल्लक्षणं बोध्यम् ॥ पार्थिवशरीरं दर्शयति—शरीरमिति । पार्थिवेन्द्रियं दर्शयति—इन्द्रियमिति । गन्धग्राहकमिति प्रयोजनकथनम् । घ्राणमिति संज्ञा । नासाग्रेत्याश्रयोक्तिः । एवमन्तरत्रापि ज्ञेयम् । पार्थिवविषयं दर्शयति—विषयेति ॥

पृथ्वी

यहां पृथ्वी का लक्षण गन्धवती किया है जिसका अर्थ है गन्धसमवायिकारणम् । यहां 'वत्' का अर्थ है—समवाय, अन्यथा तो काल और दिक् भी कालिक और देशिक सम्बन्ध से गन्ध के साथ सम्बद्ध रहते हैं; अतः अतिव्याप्ति दोष आ जाएगा। दीपिका में अन्य तीन आक्षेप भी उठाये गये हैं। पहला यदि एक पदार्थ में सुगन्ध और दुर्गन्ध दोनों मिलकर उसे गन्धरहित कर दें तो उसमें यह लक्षण नहीं घटेगा। अतः वहाँ भी यह लक्षण घट जाए, इसके लिए यह आवश्यक है कि यहां 'वत्' का अर्थ या तो समवाय माना जाय, अथवा एक चित्रगन्ध की उपस्थिति मानी जाए। चित्रगन्ध की उपस्थिति यहां नहीं मानी जा सकती क्योंकि अलग-अलग भागों की अलग-अलग गन्ध प्रतीति में आती है अतः 'वत्' का अर्थ समवाय ही है। दूसरा आक्षेप वही है जो द्रव्य को गुणवत् कहने में आता है, अर्थात् जैसे ही द्रव्य उत्पन्न होता है उस क्षण वह निर्गुण होता है और इसलिए उसमें गन्ध भी नहीं होगी। इसका समाधान यह कहकर किया गया है कि यहाँ गन्ध-समानाधिकरणद्रव्यत्वापर-जातिमत्त्व ही विवक्षित है। तीसरा आक्षेप यह है कि जल इत्यादि में भी गन्ध देखने में आती है किन्तु इसका उत्तर यह है कि वह गन्ध पार्थिव कणों के संयोग के कारण ही है। चौथा आक्षेप जो दीपिका ने नहीं दिया, और ब्रोडास ने अपने टिप्पणों में दिया है, वह यह है कि पाषाण इत्यादि पार्थिव पदार्थ भी निर्गन्ध होते हैं। किन्तु इसका उत्तर यह है कि उनमें गन्ध अनुद्भूत होती है यद्यपि इसकी सत्ता वहाँ अवश्य होती है। काल के सर्वाधार होने के कारण पृथ्वी का लक्षण उसमें भी अतिव्याप्त हो जायेगा, यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि सर्वाधार होने के कारण होने वाला सम्बन्ध यहाँ या अन्य लक्षणों में अभिप्रेत नहीं है।

पृथ्वी के गुण

यद्यपि यहाँ गन्ध को पृथ्वी का लक्षण माना है। किन्तु गन्ध पृथ्वी का एक मात्र गुण नहीं है। कणाद ने अपने सूत्रों में पृथ्वी के चार गुण

माने हैं—रूपरसगन्धस्पर्शवती पृथ्वी,^१ और शंकर मिश्र ने इसके आधार पर पृथ्वी के चार वैकल्पिक लक्षण भी माने हैं^२। इसके अतिरिक्त जैसा कि हम पहले बतला चुके हैं, पृथ्वी में दस गुण और रहते हैं और इस प्रकार पृथ्वी में कुल १४ गुण हैं किन्तु लक्षण कोटि में असाधारण घर्म का ही निर्देश रहता है। पृथ्वी का असाधारण घर्म गन्धमात्र ही है। कुछ पुस्तकों में गन्धवती पृथ्वी से पूर्व 'तत्र' पाठ भी जाता है जिसका अर्थ नीलकण्ठ ने यह किया है—पृथिव्यादिषु (नवद्रव्येषु) मध्य इत्यर्थः।

नित्य और अनित्य पृथ्वी—

दीपिका में नित्य का अर्थ दिया है—ध्वंसप्रतियोगित्वम् और अनित्य का अर्थ दिया है—ध्वंसप्रतियोगित्वम्। जो नष्ट न हो सके वह नित्य है और जो नष्ट हो सके वह अनित्य है। किन्तु इससे भी अधिक उपयुक्त परिभाषा वाक्यवृत्ति में दी है—नित्यत्वं प्रागभावाप्रतियोगित्वे सति ध्वंसप्रतियोगित्वम् तथा अनित्यत्वं प्रागभावप्रतियोगित्वध्वंसप्रतियोगित्वान्यतरत्वं बोध्यम्। दीपिका की परिभाषा में ध्वंस को भी नित्य मानना पड़ेगा क्योंकि इसका ध्वंस नहीं होता अतः वह ध्वंस का अप्रतियोगी है किन्तु नित्य नहीं क्योंकि उसकी उत्पत्ति होती है। वाक्यवृत्ति के लक्षण में प्रागभाव के अप्रतियोगी होने की शर्त लग जाने पर यह दोष नहीं होगा। किन्तु कुछ विद्वानों के मतानुसार ध्वंस नित्य है और उनके अनुसार दीपिका की परिभाषा ठीक है। नित्यत्व की एक दूसरी भी सरल परिभाषा दी जाती है—त्रैकालिकसंसर्गावच्छिन्नत्वम्। अर्थात् जो तीनों कालों में रहे। कोई भी लक्षण मानें, कार्य सदा अनित्य ही रहेगा क्योंकि उत्पन्न होने से पहले उसका अभाव होता है। परमाणु नित्य हैं क्योंकि न वे उत्पन्न होते हैं न नष्ट। वैशेषिकों के मतानुसार परमाणुवाद की व्याख्या हम आगे चल कर करेंगे।

एक अन्य विभाजन—

पृथ्वी को शरीर, इन्द्रिय और विषय की दृष्टि से त्रिधा विभाजित किया जाता है। मनुष्य इत्यादि का शरीर पार्थिव शरीर है, नासिका या घ्राणेंद्रिय इन्द्रिय है, जबकि पत्थर इत्यादि उसके विषय हैं। कणाद ने भी इन

१. वैशेषिक दर्शन, २.१.१.

२. तुलनीय अथल्ये और बोडास, तर्कसंग्रह, पृ. १०४

तीन प्रकार की पृथ्वियों का वर्णन किया है' । किन्तु इस विषय में मतभेद है कि पृथ्वी का यह त्रिधा विभाजन कार्यरूपा पृथ्वी का है या सभी प्रकार की पृथ्वी का । यहाँ तर्कसंग्रह के पाठ पर भी इसका निर्णय निर्भर करता है, क्योंकि एक स्थान पर 'पुनस्त्रिविधा' से पहले 'सा' पाठ मिलता है और यदि इस पाठ को मानें तो यह विभाजन कार्यरूपा पृथ्वी का ही मानना होगा । यह पाठ कणाद के निम्न सूत्र के आधार पर भी युक्तिसंगत माना जा सकता है, क्योंकि इस सूत्र में कार्य पृथ्वी के ही ये तीन भेद माने हैं—तत्पुनः पृथिव्यादि कार्यद्रव्यं त्रिविधं शरीरेन्द्रियविषय-संज्ञकम् । किन्तु यहाँ यदि "सा" पाठ न भी मानें तो भी पुनः शब्द के आधार पर यही अर्थ निकाला जा सकता है और सिद्धान्तचन्द्रोदय में वस्तुतः निकाला भी गया है । 'सा' शब्द के यहाँ पढ़ने के सम्बन्ध में सबसे बड़ी बाधा यह है कि दीपिका ने यहाँ टिप्पणी करते हुए लिखा है—प्रकारान्तरेण विभजते । अर्थात् यह विभाजन एक अन्य प्रकार से किया गया है, जिसका अर्थ यह है कि यह एक उपविभाजन नहीं है प्रत्युत प्रकारान्तर से किया जाने वाला एक स्वतंत्र विभाजन है । यह बात सिद्धान्तचन्द्रोदय के भी विरोध में जाती है । किन्तु प्रश्न यह है कि क्या अन्नम्भट्ट कणाद के सूत्रों के विरोध में जा सकते हैं ? जैसाकि हमने ऊपर लिखा कणाद के सूत्रों में ये तीन विभाजन कार्य पृथ्वी के ही माने गये हैं और प्रशस्तपाद ने अपनी टीका में इसे और भी स्पष्ट कर दिया है—त्रिविधं चास्याः कार्यम् । शरीरेन्द्रियविषय-संज्ञकम् । यदि अन्नम्भट्ट इसे पृथ्वी-मात्र का विभाजन मानें, तो यह इस समस्त परम्परा के विरुद्ध चला जाएगा । अतः जैसाकि नीलकण्ठ ने कहा है—चाहे हम कोई सा ही विभाजन मानें, वस्तुस्थिति यह है कि यह विभाजन नित्या पृथ्वी पर लागू नहीं होगा—अत्र नित्यपृथिव्याः शरीरेन्द्रिय-भिन्नत्वरूपविषयलक्षणान्तरत्वेन विषयान्तर्गतत्वमिति पृथिव्यास्त्रिविधत्वमत एव मूले पुनस्त्रिविधेत्युक्तिः संगच्छत इति ध्येयम् । नित्या पृथ्वी वस्तुतः तृतीय प्रकार के विभाजन के अन्तर्गत आएगी और इस प्रकार इन तीन प्रकारों में उसका भी समावेश हो जाएगा । इस प्रकार दोनों ही दृष्टियों का समन्वय हो सकता है ।

१. The Sacred Books of the Hindus, Vol VI. The Vaiśeṣaka Sūtras of Kaṇāda., ४.२.१.

२. प्रशस्तपादभाष्य, पृ. ८१.

शरीर की परिभाषा है—आत्मनो भोगायतनम्^१ । इससे भी अधिक उपयुक्त परिभाषा है—अन्त्यावयवित्वे सति चेष्टात्रयम्^२ । अर्थात् जिसमें स्वतन्त्र चेष्टा है, और जो अन्तिम अवयवी हो, वह शरीर है । अन्तिम अवयवी की परिभाषा है—अवयवजन्यत्वे सत्यवयव्यजनकत्वम्^३ । अर्थात् जो स्वयं किन्हीं अवयवों से मिलकर बना है किन्तु स्वयं किसी अवयवी का जनक न हो । जैसे घट और हमारा शरीर । हमारा शरीर स्वयं एक अवयवी है किन्तु अन्य अवयवी का अवयव नहीं है । चेष्टा की परिभाषा दी गई है—हिताहितप्राप्तपरिहारार्थः स्पन्दः । अर्थात् जो इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट की निवृत्ति के लिए की जाए । हाथ और पांव भी ऐसी चेष्टा करते हैं किन्तु वह स्वयं शरीर के अवयव हैं । अतः अन्तिम अवयवी नहीं कहला सकते । शरीर दो भागों में विभक्त है—योनिज और अयोनिज । शुक्र, शोणित इत्यादि के संयोग से उत्पन्न शरीर योनिज है जैसाकि मनुष्य, पशु और पक्षी का । स्वेद से उत्पन्न होने वाले कीटाणुओं का, वृक्षों का, और मनु इत्यादि सिद्ध पुरुषों का शरीर अयोनिज है क्योंकि वह स्वयंभू है^४ । इस वर्गीकरण के अन्तर्गत नैयायिकों ने समस्त प्राणियों का विभाजन कर दिया ।

इन्द्रिय—

इन्द्रिय की दीपिका में यह परिभाषा दी गई है—शब्देतरोद्भूतविशेष-गुणानाश्रयत्वे सति ज्ञानकारणमनःसंयोगाश्रयम् । अर्थात् जो मन के संयोग से ज्ञान का कारण बने, किन्तु स्वयं शब्द के अतिरिक्त किसी अन्य विशेष गुण का आश्रय न हो । नैयायिकों के अनुसार प्रत्यक्ष की प्रक्रिया सिद्धान्त चन्द्रिका में इस प्रकार दी है—आत्मा मनसा संयुज्यते मन इन्द्रियेणन्द्रियमथन ततः प्रत्यक्षम् । अर्थात् इन्द्रियां एक और बाह्य विषयों से सम्बद्ध होती हैं, और दूसरी ओर मन से जोकि आत्मा से श्रृंखला का कार्य करता है ।

१. तुलनीय वात्स्यायनभाष्य, न्यायसूत्र, १.१.९.

२. तुलनीय उपस्कार, वैशेषिक सूत्र, ४.२.१.

३. सिद्धान्तचन्द्रोदय, ६

४. तत्रायोनिजमनपेक्ष्य शुक्रशोणितं देवर्षीणां शरीरं धर्मविशेषसहितेभ्योऽणुभ्यो जायते ।—शुक्रशोणित—सन्निपातजं योनिजम् । —प्रशस्तपादभाष्य,

अतः मन आत्मा और इन्द्रिय दोनों से सम्बन्ध रखता है और ये दोनों ही सम्बन्ध जान का कारण हैं। उपर्युक्त परिभाषा में शब्देतरोद्भूतविशेष-गुणानाश्रयत्वे सति इसलिए कहा गया है कि इन्द्रिय का लक्षण आत्मा में अतिव्याप्त न हो जाए क्योंकि आत्मा में तो, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, १४ गुण होते हैं। किन्तु इस पर यह आक्षेप उठाया जा सकता है, कि इन्द्रियाँ भी जिन-जिन पदार्थों से बनती हैं, उन-उन के गुणों का आश्रय होती ही हैं। उदाहरणतः पृथ्वी से निर्मित इन्द्रिय में गन्ध और तेज से निर्मित इन्द्रिय में रूप होना ही चाहिए। उत्तर यह है कि उनमें गुण रहते अवश्य हैं, किन्तु व्यक्त नहीं होते। इसीलिये परिभाषा में विशेष का उद्भूत विशेषण दिया गया है। किन्तु इस प्रकार यह परिभाषा अव्याप्त हो जाएगी क्योंकि श्रोत्र में तो जोकि आकाश स्वरूप है, शब्द गुण उद्भूत ही रहता है अतः परिभाषा में 'शब्देतर' पद जोड़ दिया गया है। इसी प्रकार इन्द्रियों की कुछ अन्य परिभाषाएँ भी हैं जैसे—शरीरसंयुक्तं ज्ञानकारणमतीन्द्रियम्^१ तथा स्मृत्यजनक-ज्ञानजनक-मनःसंयोगाश्रयत्वम्^२। प्रथम परिभाषा में अतीन्द्रिय शब्द से आत्मा और बाह्य पदार्थों का निराकरण हो जाता है और शरीर-संयुक्त पद से निर्विकल्प ज्ञान का निराकरण हो जाता है जोकि सविकल्प ज्ञान का आभ्यन्तर कारण है। दूसरी परिभाषा में स्मृत्यजनक पद द्वारा आत्मा का निराकरण किया गया है। इन्द्रियाँ दो प्रकार की हैं—बाह्य और आभ्यन्तर। मन आभ्यन्तर है शेष इन्द्रियाँ बाह्य। इनमें से घ्राण, रसना और श्रोत्र केवल गुणों को ग्रहण करते हैं, जबकि चक्षु और स्पर्श द्रव्य तथा गुण दोनों को ग्रहण करते हैं।

विषय—

इसके अन्तर्गत समस्त निर्जीव पार्थिव पदार्थ आते हैं। ये यहाँ पर समस्त ज्ञेय पदार्थों के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। क्योंकि इन्द्रियों को हम ज्ञेय नहीं बना सकते, अतः वे विषय के अन्तर्गत नहीं आती किन्तु कम से कम हमारे शरीर के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों के शरीर ज्ञेय हैं अतः वे तो विषय ही होने चाहिएँ। स्वयं का शरीर तो विषयी (आध्यात्मिक) है किन्तु अन्यो

१. तर्ककौमुदी, पृ. ३

२. उपस्कारभाष्य, वैशेषिक, दर्शन, ४. २. १.

के शरीर अवश्य विषय है। अतः उन्हें विषयों के अन्तर्गत मानना चाहिए। किन्तु यहाँ विषय शब्द का प्रयोग एक सीमित अर्थ में किया गया है सब ज्ञेय पदार्थों के अर्थ में नहीं। अन्य मनुष्यों के शरीर भी चाहे हमारी दृष्टि से विषय हों, पर उनकी अपनी दृष्टि से विषयी हैं। किन्तु पाषाण इत्यादि हमेशा विषय ही रहेंगे, विषयी नहीं हो सकते क्योंकि उन में ज्ञान नहीं है। इस कठिनाई की ओर सिद्धान्तचन्द्रिका का ध्यान गया था क्योंकि उसमें लिखा है—
 “यद्येतल्लक्षणं शरीरादावतिव्याप्तमिति विभाव्यते तदा शरीरन्द्रिये भिन्नत्वमेव तदनुसरम् । वस्तुतस्तु शरीरादिकमपि विषय एव । भेदेन कीर्तनं तु बालधी-
 वंशद्याय । अर्थात् भोगोपयोगी सभी पदार्थ विषय हैं तो शरीर और इन्द्रियाँ भी विषय के अन्तर्गत आएंगी किन्तु बालबुद्धि लोगों के लिए उनका अलग वर्गीकरण किया गया है। वस्तुतः सिद्धान्तचन्द्रिका का यह विचार मुक्तावली की निम्न पंक्ति से ले लिया गया प्रतीत होता है—शरीरेन्द्रिययोर्विषयत्वेऽपि प्रकारान्तरोपन्यासः शिष्यबुद्धिवंशद्यार्थः ।^१ ऐसा लगता है कि इन टीकाकारों ने इस बात पर विचार नहीं किया जो हमने ऊपर कही है कि यहाँ विषय का अर्थ उस पदार्थ से है जो हर स्थिति में विषय ही बने रहते हैं विषयी नहीं बन सकते। ध्यान देने की बात है कि अन्नम्भट्ट ने विषय को शरीरेन्द्रिय भिन्न कहा है, भोग या उपभोग का कोई निर्देश नहीं किया।

यहाँ एक यह भी प्रश्न आता है कि क्या परमाणुओं को विषय माना जाएगा, क्योंकि परमाणु अतीन्द्रिय होने के कारण भोगने में तो आते नहीं और भाषापरिच्छेद में तो स्पष्ट रूप में परमाणुओं का विषय से बहिष्कार किया गया है—विषयो द्वयणुकादिश्च ब्रह्माण्डान्त उदाहृतः^२। किन्तु ऐसा लगता है कि अन्नम्भट्ट जैसा कि हम पहले कह चुके हैं परमाणुओं को विषय के अन्तर्गत लाना चाहता है। एक दूसरा प्रश्न यह है कि वृक्ष शरीर माने जाएंगे या विषय? प्रशस्तपाद वृक्षों को विषय मानते हैं^३ और विश्वनाथ शरीर ।^४

१. न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, पृ. ७५.

२. भाषापरिच्छेद, ३८.

३. विषयस्तु—मृत्पाषाणस्थावरलक्षणः । —स्थात्ररास्तृणीपघिलता-
 वतानवनस्पतय इति ।—प्रशस्तपादभाष्य पृ. ८८-८९.

४. तुलनीय-न च वृक्षादीनां शरीरत्वे किं मानमिति वाच्यम् ।—इत्यादि
 न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, पृ. ७३.

शंकर मिश्र ने दोनों पक्षों की चर्चा करके निम्न परिणाम दिया है और अन्नम्भट्ट भी सम्भवतः इससे सहमत हैं—तथापि चेष्टावत्त्वमिन्द्रियवत्त्वं च नोद्भिदां स्फुटतरमती न शरीरव्यवहारः ।^१

शीतस्पर्शवत्य आपः । ता द्विविधाः—नित्या अनित्याश्च । नित्याः परमाणुरूपाः अनित्याः कार्यरूपाः । पुनस्त्रिविधाः—शरीरेन्द्रियविषय-भेदात् । शरीरं वरुणलोके । इन्द्रियं रसग्राहकं रसनं जिह्वाग्रवर्ति । विषयः सरित्समुद्रादिः ॥

शीतस्पर्श वाला जल है । वह दो प्रकार का है—नित्य और अनित्य । नित्य परमाणुरूप है । अनित्य कार्यरूप है । फिर वह तीन प्रकार का है—शरीर, इन्द्रिय और विषय । शरीर वरुणलोक में है । इन्द्रिय रस को ग्रहण करने वाली रसेन्द्रिय है जो जिह्वा के अग्रभाग में स्थित है । विषय नदी, समुद्र आदि हैं ।

(त. दी.) अपां लक्षणमाह—शीतेति । उत्पन्नविनष्टजलेऽव्याप्तिवारणाय शीतस्पर्शसमानाधिकरणद्रव्यत्वापरजातिमत्त्वे तात्पर्यम् । 'शीतं शिलातलम्' इत्यादौ जलसंबन्धादेव शीतस्पर्शभानमिति नातिव्याप्तिः । अन्यत्सर्वं पूर्वरीत्या व्याख्येयम् ॥

आपः—

शीतल स्पर्श जल का लक्षण है । इसका विभाजन भी पृथ्वी की भांति प्रथम नित्य, अनित्य, और फिर शरीर, इन्द्रिय और विषय के रूप में किया गया है । जलीय शरीर वरुण लोक में माना गया है । जिह्वा का अग्रभाग जो स्वाद ग्रहण करता है इसकी इन्द्रिय है और नदी, समुद्र इत्यादि इसके विषय हैं । ऐसा लगता है कि एकरूपता की दृष्टि से आपः और तेजस् पर भी लिखे गये दोनों गद्यांश पृथ्वी के गद्यांश के ढाँचे पर ढाले गये हैं । इससे यह विचित्रता आ गई है कि पार्थिव शरीर तो प्रत्यक्ष ही देखने में आते हैं, किन्तु जलीय और तेजस्, जो प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर नहीं होते, वरुण और आदित्य लोक में मान लिये गये हैं । कणाद ने आपः की यह परिभाषा दी है—रूपरसस्पर्शवत्य आपो द्रवाः स्निग्धाः^२ और यह भी कहा है कि जल का स्पर्श शीतल होता है^३ किन्तु

१. उपस्कारभाष्य, वैशेषिक दर्शन, ४. २. ५.

२. वैशेषिक दर्शन, २. १. २.

३. अप्मु शीतता, उपरिवत्, २. २ ५.

इसका कोई वर्गीकरण नहीं किया जो कि बाद के टीकाकारों ने जोड़ा है। एक बार जब टीकाकारों ने यह वर्गीकरण कर दिया तो फिर इसके पक्ष में उठने वाले समस्त आक्षेपों का समाधान अनिवार्य हो गया, चाहे वह समाधान बहुत बार उचित न भी रहा हो। उदाहरणतः यह आक्षेप किया जाता है कि जलीय शरीर तो जल के बुलबुले की तरह बिल्कुल तरल होगा और भोग भोगने में असमर्थ होगा। किन्तु इसका उत्तर यह दिया जाता है कि जलीय शरीर वस्तुतः प्रधान रूप से जलीय परमाणुओं से बनते हैं किन्तु उनमें पार्थिव परमाणुओं का भी इतना अंश अवश्य रहता है कि वे एक सूत्र में गुथे रहें। जलीय शरीर केवल अयोनिज माने जाते हैं।^१

पापाण में जो हमें शीतलता का अनुभव होता है, वह उसमें जलीय तत्त्व की सत्ता के कारण ही है। इस वर्गीकरण के सम्बन्ध में जो बात हम पृथ्वी का वर्णन करते हुए कह चुके हैं, वही लागू होती है। जल में रहने वाले गुणों का भी हम पहले ही निर्देश कर चुके हैं।

उष्णस्पर्शवत्तेजः । तद्विधिमम्—नित्यमनित्यं च । नित्यं परमाणुरूपम् । अनित्यं कार्यरूपम् । पुनस्त्रिविधम्—शरीरेन्द्रियविषयभेदात् । शरीरमादित्यलोके । इन्द्रियं रूपग्राहकं चक्षुः कृष्णताराप्रवर्ति । विषय-श्चतुर्विधः—भौमदिव्यौदर्याकरजभेदात् । भौमं बल्ल्यादिकम् । अविन्धनं दिव्यं विद्युदादि । भुक्तस्य परिणामहेतुरौदर्यम् । आकरजं सुवर्णादि ॥

उष्ण स्पर्श वाला तेज है। वह दो प्रकार का है—नित्य और अनित्य। नित्य परमाणुरूप है। अनित्य कार्यरूप। फिर वह तीन प्रकार का है—शरीर, इन्द्रिय तथा विषय। शरीर आदित्यलोक में है। इन्द्रिय रूप को ग्रहण करने वाली चक्षुरिन्द्रिय है, जो काली पुतली के अग्रभाग में स्थित है। विषय चार प्रकार का है—भौम (भूमिसम्बन्धी) दिव्य, उदर्य (उदरसम्बन्धी) तथा आकरज। भौम अग्नि आदि हैं। जल ही जिस की इन्धन है ऐसी विद्युदादि दिव्य है। खाये हुए को पचाने वाला औदर्य है। आकरज सुवर्ण आदि हैं।

(त. दी.) तेजसो लक्षणमाह—उष्णस्पर्शवदिति । 'उष्णं जलम्' इति प्रतीतेस्तेजः संबन्धानुविधायित्वाग्नित्वात्पित्तः । विषयं विभजते—भौमेति । ननु

३. आर्ष्यतेजसवायवीयशरीराणां वरुणादित्यवायुलोकेषु प्रसिद्धानामयोनिजत्वमेव उपस्कारभाष्य, वैशेषिकदर्शन ४. २. ५.

सुवर्णं पार्थिवं, पीतत्वाद्गुरुत्वाद्दरिद्रादिवदिति चेत्-न; अत्यन्तानलसंयोगे सति घृतादौ द्रवत्वनाशदर्शनेन, जलमध्यस्थघृतादौ द्रवत्वनाशदर्शनेन, असति प्रतिबन्धके पार्थिवद्रव्यद्रवत्वनाशाग्निसंयोगयोः कार्यकारणभावावधारणात् । सुवर्णस्यात्यन्तानलसंयोगे सत्यनुच्छिद्यमानद्रवत्वाधिकरणत्वेन पार्थिवत्वानुपपत्तेः । तस्मात्पीतद्रव्यद्रवत्वनाशप्रतिबन्धकतया द्रवद्रव्यान्तरसिद्धौ नैमित्तिकद्रवत्वाधिकरणतया जलत्वानुपपत्तेः, रूपवत्तया वाय्वादिध्वनन्तर्भावात्, तजसत्वसिद्धिः । तत्रोष्णस्पर्शभास्वरूपयोरुपपत्त्युक्त्यर्थकपार्थिवरूपस्पर्शाभ्यां प्रतिबन्धादनुपपत्तिः । तस्मात्सुवर्णं तजसमिति सिद्धम् ॥

तेजस्—

इस प्रकरण में यह उल्लेखनीय है कि यहां तेजस् के विषय चार प्रकार के माने गये हैं । (१) पार्थिव अर्थात् साधारण अग्नि और ज्वगुन् इत्यादि (२) दिव्य अर्थात् विद्युत् और वाइवाग्नि, (३) औदरिक जो भोजन को पचाने में सहायक होता है, (४) चौथा आकरज जैसे सुवर्ण इत्यादि । इनमें भौम और दिव्य तो निश्चय ही तेज के स्वरूप हैं किंतु अंतिम दोनों केवल लाक्षणिक अर्थों में ही तेजस् माने जा सकते हैं । भोजन को पचाने और शरीर में उष्णता उत्पन्न करने के कारण औदर्य को भी तेज कह देते हैं । सुवर्ण के तेजस्त्व के सम्बन्ध में हम अभी चर्चा करेंगे ।

मूल सूत्रों में तेजस् का यह विभाजन नहीं मिलता । यह विभाजन प्रशस्तपाद के भाष्य में से लिया गया है । उपस्कार के लेखक, शंकर मिश्र ने तेज का एक अन्य विभाजन भी दिया है—१. जिनमें रूप भी है और स्पर्श भी, जैसे सूर्य का प्रकाश । २. जिनमें रूप है, किंतु स्पर्श व्यक्त रूप में नहीं है, जैसे चन्द्रमा का प्रकाश । ३. जिनमें रूप और स्पर्श अर्ध-व्यक्त हैं जैसे—नेत्र की ज्योति । ४. जिनमें रूप अर्धव्यक्त है किंतु स्पर्श पूर्ण-व्यक्त है, जैसे लाल गर्म घट । यहां यह भी उल्लेखनीय है कि नैयायिकों ने रूप का ग्राहक चक्षु में कृष्ण तारिका का अग्रभाग माना है किंतु आधुनिक विज्ञान इस कृष्ण तारिका को बाह्य प्रकाश के अन्दर जाने का मार्ग मात्र मानता है

१. चतुर्विधं हि तेजः किञ्चिदुद्भूतरूपस्पर्शं यथा सौरादि, किञ्चिदुद्भूतरूप-मनुद्भूतस्पर्शं यथा चान्द्रं, किञ्चिद्रनुद्भूतरूपस्पर्शं यथा नायनम् (= सीवर्णं), किञ्चिदनुद्भूतरूपमुद्भूतस्पर्शं यथा नैदाघं वारिभजंनकपालादिगतञ्च तेजः । उपस्कारभाष्य, वैशेषिकदर्शन, २.१.३.

और रूप का वास्तविक ग्राहक रैटीना को मानता है । दूसरा एक अन्य सिद्धान्त जिस पर आक्षेप किया गया है वह यह है कि चक्षु प्राप्यकारी इन्द्रिय है अर्थात् दृग् इन्द्रिय आंख से बाहर दृश्य पदार्थ तक जाकर उसे छूती है । इस पर जैन नैयायिकों ने भी आक्षेप किया है और यह माना है कि दृग् इन्द्रिय बाहर नहीं जाती प्रत्युत पदार्थ पर पड़ने वाली सूर्य की किरणें ही उस पदार्थ को रैटीना तक ले जाती हैं ।

नैयायिकों ने बहुत से कारण दिये हैं कि धातुओं को भी क्यों तैजस माना जाए ? तर्कदीपिका कहती है कि सुवर्ण न पृथ्वी है, न जल, न वायु । यह अन्तिम पांच तत्त्वों के अन्तर्गत तो माना ही नहीं जा सकता । सुवर्ण पृथ्वी नहीं है क्योंकि इसे चाहे कितनी भी गर्मी पहुंचाएं यह नष्ट नहीं होता, जिस प्रकार मक्खन गर्मी पहुंचाये जाने पर लुप्त हो जाता है । सुवर्ण जल भी नहीं हो सकता क्योंकि इसकी तरलता की प्रकृति स्वाभाविक नहीं है प्रत्युत उपाधिजन्य है । यह वायु भी नहीं हो सकता क्योंकि इसका रूप है । अतः स्वर्ण तैजस ही हो सकता है और इसकी उष्णता पार्थिव पदार्थों के आधिक्य द्वारा छिपा ली गई है ।

किन्तु ये तर्क निर्दोष नहीं हैं । प्रत्येक पार्थिव पदार्थ पिघलने पर नष्ट नहीं होता । वस्तुतः ठोस और द्रवीभूत होना पदार्थ का कोई गुण नहीं है प्रत्युत एक ही पदार्थ की दो विभिन्न अवस्थाएं हैं । दूसरे यदि यह माना जाए कि पृथ्वी तत्त्व की अधिकता स्वर्ण की उष्णता को छिपा लेती है तो हम क्या यह नहीं मान सकते कि स्वर्ण के पिघलने पर इसके नाश न होने का कारण भी पार्थिव तत्त्वों की सत्ता ही है । आधुनिक विज्ञान यह जानता है कि धातुओं को वायवीय रूप नहीं दिया जा सकता और प्राचीन भारतीय दार्शनिक भी इससे परिचित थे । इस कठिनाई को उन्होंने यह कहकर दूर कर दिया कि ये धातुएं पार्थिव नहीं हैं प्रत्युत तैजस हैं । अतः नैयायिकों ने उनमें एक चमक देखकर उन्हें तैजस के अन्तर्गत मान लिया । किन्तु मीमांसक इसके भी आगे गये और उन्होंने धातुओं को एक पृथक् ही द्रव्य माना ।

रूपरहितस्पर्शवान् वायुः । स द्विविधो नित्योऽनित्यश्च । नित्यः परमाणुरूपः । अनित्यः कार्यरूपः । पुनस्त्रिविधः—शरीरेन्द्रियविषयभेदात् । शरीरं वायुलोके । इन्द्रियं स्पर्शग्राहकं त्वक्सर्वशरीरवर्ति । विषयो वक्षादिकम्पनहेतुः ॥

शरीरान्तःसंचारी वायुः प्राणः । स चैकोऽप्युपाधिभेदात्प्राणा-
पानादिसंज्ञां लभते ॥

रूपरहित तथा स्पर्शवान् वायु होती है । वह दो प्रकार की है—नित्य तथा अनित्य । नित्य परमाणुरूप है । अनित्य कार्यरूप है । फिर वह तीन प्रकार की है—शरीर, इन्द्रिय तथा विषय । शरीर वायुलोक में होते हैं । इन्द्रिय स्पर्श को ग्रहण करने वाली स्वगिन्द्रिय है जो समस्त शरीर के अग्र-भाग में है । विषय वृक्षादि को कँपाने वाली पवन है ।

शरीर के अन्दर सञ्चरण करने वाली वायु प्राण है । वह एक होने पर भी विभिन्न स्थानों में स्थिति के भेद से प्राण, अपान आदि नामों से जानी जाती है ।

(त. बी.) वायुं लक्षयति—रूपरहितेति । आकाशादावतिव्याप्तिवारणाय—स्पर्शवानिति । पृथिव्यादावतिव्याप्तिवारणाय—रूपरहितेति । ननु प्राणस्य कुत्रान्तर्भाव इत्यत आह—शरीरेति । स चेति । एक एव प्राणः स्थानभेदात्प्राणापानादिशब्दैर्व्यवहृत इत्यर्थः । स्पर्शानुमेयो वायुः । तथाहि—योऽयं वायौ वाति सत्यनुष्णाशीतस्पर्शो भासते स स्पर्शः क्वचिदाश्रितो गुणत्वाद्रूपवत् । न चास्य पृथिव्याश्रय उद्भूतस्पर्शवतः पार्थिवस्योद्भूतरूपवत्त्वनियमात् । न जलतेजसी ; अनुष्णाशीतस्पर्शवत्त्वात् । न विभुचतुष्टयम् ; सर्वत्रोपलब्धिप्रसङ्गात् । न मनः ; परमाणुस्पर्शस्यातीन्द्रियत्वात् । तस्माद्यः प्रतीयमानस्पर्शाश्रयः स वायुः ॥ ननु वायुः प्रत्यक्षः प्रत्यक्षस्पर्शाश्रयत्वाद् घटवदिति चेत्,—न ; उद्भूतरूपवत्त्वस्योपाधित्वात् । यत्र द्रव्यत्वे सति बहिरिन्द्रियजन्यप्रत्यक्षत्वं तत्रोद्भूतरूपवत्त्वमिति घटादौ साध्यव्यापकत्वम् । यत्र प्रत्यक्षस्पर्शाश्रयत्वं तत्रोद्भूतरूपवत्त्वं नारतीति पक्षे साधनाव्यापकत्वम् । न चैवं तप्तवारिस्थतेजसोऽप्यप्रत्यक्षत्वापत्तिः ; इष्टत्वात् । तस्माद्रूपरहितत्वाद्वायुरप्रत्यक्षः ॥

इदानीं कार्यरूपपृथिव्यादिचतुष्टयस्योत्पत्तिविनाशक्रमः कथ्यते । ईश्वरस्य चिकीर्षाविशात्परमाणुवु क्रिया जायते । ततः परमाणुद्वयसंयोगे सति द्वयणुकमुत्पद्यते । त्रिभिर्द्वयणुकैस्त्र्यणुकम् । एवं चतुरणुकादिक्रमेण महती पृथिवी महस्य आपो महलेजो महान्वायुरुत्पद्यते । एवमुत्पन्नस्य कार्यद्रव्यस्य संज्ञिजहीर्षाविशात्परमाणुवु क्रिया । क्रियया परमाणुद्वयविभागे सति द्वयणुकनाशः । ततस्त्र्यणुकनाशः । ततश्चतुरणुकत्वेत्पेवं महापृथिव्यादिनाशः ॥ असमवायिकारणनाशाद्द्वयणुकनाशः, समवायिकारणनाशात्त्र्यणुकनाश इति संप्रवायः । सर्वत्रासमवायिकारणनाशाद्द्रव्यनाशः—इति नवीनाः ॥

किं पुनः परमाणुसद्भावे प्रमाणम् ? उच्यते,—जालसूर्यमरीचिस्थं सूक्ष्मतमं यद्रज उपलभ्यते तत्सावयवम्, चाक्षुषद्रव्यत्वात्पटवत् । द्र्यणुकावयवोऽपि सावयवः, महदारम्भकत्वात्तन्नुवत् । यो द्वयणुकावयवः स परमाणुः । स च नित्यः; तस्यापि कार्यत्वेऽनवस्थाप्रसङ्गात् । तथा च मेरुसर्पपयोरपि समानपरिमाणत्वापत्तिः । सृष्टिप्रलयसद्भावे “धाता यथा पूर्वमकल्पयत्” इत्यादिश्रुतिः प्रमाणम् । सर्वकार्यद्रव्यध्वंसोऽवान्तरप्रलयः । सर्वभावकार्यध्वंसो महाप्रलय इति विवेकः ॥

वायु—

वायु का भी अन्नम्भट्ट ने वही विभाजन किया है जो पृथ्वी, अपस् और तेजस् का । वायु को स्पर्शवान् और रूपरहित माना है । यह भी नित्य और अनित्य दोनों प्रकार की है । इसका शरीर वायु लोक में प्राप्त होता है । हमारे शरीर का जो चर्म स्पर्श को ग्रहण करता है वह इसका ग्राहक इन्द्रिय है और इसका विषय वह वायु है जो बहती है और वृक्ष इत्यादि को हिलाती है ।

वायु का एक अन्य प्रकार प्राण वायु है, जो वस्तुतः वायु ही है किन्तु वह शरीर में विचरण करता है । इस विषय में पर्याप्त मतभेद है कि प्राण को किस प्रकार वायु के अन्तर्गत माना जाए । प्रशस्तपाद और प्राचीन नैयायिक प्राण को वायु का एक चतुर्थ रूप मानते हैं और उसे शरीर, इन्द्रिय तथा विषय से भिन्न मानते हैं ।^१ किन्तु नव्य नैयायिक उसे विषय के ही अन्तर्गत मानते हैं । इस सम्बन्ध में निश्चयात्मक रूप से कुछ भी कहना कठिन है कि अन्नम्भट्ट की क्या दृष्टि है । न तो वे प्रशस्तपाद की भांति उसे चौथे प्रकार का मानते हैं और न उसे विषय के अन्तर्गत ही गिनते हैं । दीपिकाकार ने भी इस विषय पर कोई प्रकाश नहीं डाला और प्राण को पांच, ‘प्राण’, ‘अपान’, ‘व्यान’, ‘समान’, और ‘उदान’, के अन्तर्गत ही मान लिया और यह भी कहा कि प्राण इन पाँचों का सामूहिक नाम ही है । वस्तुतः यह एक ही प्राण वायु है जो शरीर के भिन्न-भिन्न भागों से संचरण करने के कारण और भिन्न-भिन्न क्रिया में सहायक होने के कारण भिन्न-भिन्न नाम पा लेती है । निम्न पद्य में इन पाँचों प्राणों के स्थान दिये हैं—

१. तत्र कार्यलक्षणश्चतुर्विधः, शरीरमिन्द्रियं विषयः प्राण इति ।

हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिसंस्थितः ।

उदानः कण्ठदेशस्थो व्यानः सर्वंशरीरगः ॥^१

एक और भी अधिक विस्तृत वर्णन में इनकी भिन्न-भिन्न क्रियाएं दी गई हैं—मुखनासिकाभ्यां निष्क्रमणप्रवेशनात्प्राणः । मलादीनामघोनयनादपानः । आहारेषु पाकार्थं वह्नेः समुन्नयनात्समानः । ऊर्ध्वनयनादुदानः । नाडी-मुखेषु वितननाद्व्यानः ।^२ इन पांचों प्राणों के पौराणिक नाम ये हैं—

उद्गारे नाग आख्यातः कूर्म उन्मीलने स्मृतः ।

कृकरः क्षुत्करो ज्ञेयो देवदत्तो विजृम्भणे ।

न जहाति मृतं चापि सर्वध्यापि धनंजयः ॥^३

इन पांचों पौराणिक प्राणों को जिस प्रकार न्यायशास्त्र ने अपने अनुकूल ढाल लिया, वह इस बात का एक सुन्दर उदाहरण है कि किस प्रकार भारतीय दार्शनिकों ने प्राचीन तत्त्वों को नवीन ढंग से अपने अनुकूल बना लिया ।

क्या वायु दृश्य है ?

वायु को रूप-रहित कहकर उसे पहले तीन द्रव्य, पृथ्वी, अग्नि और तेज से व्यावृत किया गया है और स्पर्शवान् कहकर उसे अन्तिम पांच द्रव्य, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन से पृथक् किया गया है । वायु का स्पर्श न तो तेज के समान उष्ण है और न जल के समान शीतल । इस प्रकार वायु की स्थिति दृश्य और अदृश्य द्रव्यों के बीच में है और नैयायिकों में इस विषय पर पर्याप्त वादविवाद है कि वायु प्रत्यक्षगम्य है या नहीं । प्राचीन नैयायिक यह मानते हैं कि वायु प्रत्यक्षगम्य नहीं है प्रत्युत अनुमानगम्य है और अन्नम्भट्ट उनसे सहमत है । वीपिका में यह तर्क दिया गया है कि वायु स्पर्शवान् होने के कारण प्रत्यक्ष नहीं माना जा सकता क्योंकि प्रत्यक्षगम्य होने के लिये रूपवान् होना आवश्यक है । उपाधि को 'साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकः' कहा गया है । कारण को सोपाधिक अर्थात् साध्य की अपेक्षा अधिक विस्तृत किन्तु साधन की अपेक्षा कम विस्तृत नहीं होना चाहिए ।

१. अमर० १/६७ टी० न्यायकोश पृ० ७३७ पर उद्धृत

२. दिनकरीव्याख्या, पृ० १४१

३. मित्रान्तचन्द्रोदय, न्यायकोश पृ० ७३८ पर उद्धृत

उदाहरणतः साध्य अग्नि को वहां अवश्य होना चाहिए जहां हेतु धूम रहता है। किन्तु ऐसे उदाहरण मिल सकते हैं जबकि हेतु साध्य की अपेक्षा अधिक व्यापक हो और ऐसी दशा में अनुमान दूषित हो जाता है। ऐसे हेतु सोपाधिक कहलाते हैं। उदाहरण के लिये ऊपर के तर्क को न्याय के अनुमान की भाषा में इस प्रकार रखा जाएगा—वायुः प्रत्यक्षः। प्रत्यक्षस्पर्शाश्रयत्वात्। यो यो द्रव्यत्वे सति प्रत्यक्षस्पर्शाश्रयः स स प्रत्यक्षः यथा घटः। तथा चायम्। तस्मात्तथा। यहां उद्भूतरूपवत्त्व उपाधि है जोकि साध्य की अपेक्षा अधिक और साधन की अपेक्षा कम व्यापक है क्योंकि हम यह कह सकते हैं कि प्रत्यक्षगम्य समस्त पदार्थ उद्भूत रूपवत्त्व वाले हैं। किन्तु हम यह नहीं कह सकते कि जहां जहां पदार्थ को स्पर्श किया जा सकता है, वहां-वहां वह उद्भूतरूपवत्त्व भी है क्योंकि हमें मालूम है कि वायु स्पर्शवान् तो है किन्तु उद्भूत रूपवाली नहीं है। अतः यह उपाधि साधन में व्यापक नहीं है। अतः यह समस्त तर्क दूषित है। यदि इस पारिभाषिक ढंग से हट कर कहें तो यह तर्क इस प्रकार दिया जा सकता है कि प्राचीन नैयायिकों के अनुसार प्रत्यक्षत्व सीमित अर्थ रखता है और केवल रूपवान् पदार्थों पर ही लागू होता है। अतः जो रूपवान् नहीं है वह प्रत्यक्षगम्य नहीं है, अतः वायु भी प्रत्यक्षगम्य नहीं है।

नव्यनैयायिक वायु को सर्वथा प्रत्यक्षगम्य मानते हैं। सिद्धान्तचन्द्रोदय में उनका तर्क इन शब्दों में दिया गया है—बहिर्ब्रव्यप्रत्यक्षं प्रति महत्त्वविशिष्ट-विभुव्यावृत्त-विशेषगुणः महत्त्वविशिष्टोद्भूतरूपोद्भूतस्पर्शान्यतरद्वा करणम् अर्थात् जिस पदार्थ में महत्त्व हो किन्तु विभुत्व न हो और उस पदार्थ का कोई विशिष्ट गुण भी हो तथा वह उद्भूतरूप या उद्भूतस्पर्श वाला हो, प्रत्यक्ष होता है। इसी तर्क के आधार पर नव्यनैयायिक वायु को प्रत्यक्ष मानते हैं क्योंकि उसका स्पर्श होता है। किन्तु वे भी परमाणु को प्रत्यक्ष नहीं मानते क्योंकि उसमें महत्त्व नहीं है। अन्नम्भट्ट प्राचीन नैयायिकों के समान वायु को अनुमेय ही मानते हैं।

वायु की पृथक् सत्ता : तर्कदीपिका में यह कहा गया है कि जिसका हम अनुष्ण और अशीत स्पर्श अनुभव करते हैं, वही वायु है, क्योंकि यह एक गुण है जो किसी द्रव्य में रहना चाहिए। यह द्रव्य पृथ्वी नहीं हो सकता क्योंकि इसमें उद्भूत रूप नहीं है। यह न शीतल है न उष्ण, इसलिए यह न जल हो सकता है, न तेज। यह आकाश, काल, दिक् और आत्मा भी नहीं है क्योंकि यह सर्वव्यापक नहीं है। वायु मन नहीं हो सकता, क्योंकि मन अणु है अतः पृथक् वायु की सत्ता माननी होगी।

उपर्युक्त विवेचन में आधुनिक विज्ञान का अंश नहीं है। नैयायिकों को यह ज्ञान नहीं था कि वायु में स्पर्श के अतिरिक्त भी कुछ और गुण हैं। पृथ्वी, जल और वायु आज के विज्ञान के ठोस, तरल और गैस के समान हैं और तेज एक प्रकार की शक्ति है।

सृष्टि की उत्पत्ति : अब तक हमने पृथ्वी, जल, तेज और वायु इन चार तत्त्वों का विवेचन किया। ये चार तत्त्व इन्द्रियगम्य हैं और मूर्त हैं। अतः तर्कबोपिका में इस स्थान पर यह विवेचन भी किया है कि किस प्रकार इन चार तत्त्वों के मेल से सृष्टि होती है। परमाणु में ईश्वरीय इच्छा से गति होती है और उस गति के कारण द्र्यणु, त्रसरेणु और चतुरणु बनते हैं। और इनसे ही पृथ्वी, जल, तेज और आकाश बनता है।

इसके विपरीत क्रम से सृष्टि का विलय होता है और ये परमाणु विपरीत क्रम में टूटते-टूटते केवल अणु के रूप में रह जाते हैं। इस प्रक्रिया के सम्बन्ध में सभी नैयायिक एकमत हैं किन्तु पदार्थों के नाश के सम्बन्ध में थोड़ा सा मतभेद है। प्राचीन नैयायिकों का यह मत है कि कार्य का नाश कारण के नाश होने पर होता है किन्तु इसका द्र्यणुक अपवाद है क्योंकि द्र्यणुक का नाश परमाणुनाशाधीन नहीं होता, क्योंकि परमाणु नित्य है। किन्तु द्र्यणुकों का विनाश परमाणुओं के संयोग के नाश से होता है। नैयायिक इसके विपरीत यह मानते हैं कि इस सब विलय की शृंखला में कारण पदार्थ का नाश नहीं मानना चाहिए प्रत्युत कारण पदार्थों के संयोग का नाश ही कारण मानना चाहिए। प्राचीन नैयायिकों की भांति अन्य सब शृंखलाओं में तो पदार्थ का नाश और अन्तिम स्थिति में संयोग का नाश कारण मानने से गौरव आता है और इस प्रकार संयोग जो कि कार्य का असमवायी कारण है, वही नष्ट होता है, पदार्थ नष्ट नहीं होता।

इस मतभेद से एक गहरा मतभेद उत्पन्न हो जाता है। प्राचीन नैयायिकों के अनुसार कार्य के विनाश से पहले उसके अंशों का नाश आवश्यक है। जब परमाणु पृथक् होते हैं तो द्र्यणुक नष्ट हो जाते हैं और जब द्र्यणुक नष्ट होते हैं तो त्रसरेणु नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार अन्तिम कार्य सब से अन्त में नष्ट होता है जबकि यह उत्पन्न भी सबसे अन्त में होता है। यह वेदान्तियों के मत

१. तुलनीय, न्याय कोश पृ. ५७३, यहाँ खण्ड प्रलय तथा महाप्रलय के सम्बन्ध में अनेक मतमतान्तरों का उल्लेख है।

के सर्वथा विपरीत है। ब्रह्मसूत्र में इसके विपरीत सृष्टि का क्रम दिया है अर्थात् अन्तिम कार्य नाश के समय सबसे पहले नष्ट होता है, तदनन्तर उसके अंश और इस प्रकार हम अन्तिम कारण तक पहुँचते हैं।^१ हम लोग भी इस बात को प्रतिदिन अनुभव करते हैं कि किसी चीज का निर्माण करते समय जो क्रम होता है, उसके नाश के समय, वह क्रम उससे विपरीत होता है। किन्तु नैयायिक इसे नहीं मानते। शंकराचार्य ने इस मत में दोष दिखलाते हुए यह कहा है कि यदि कारण के नाश के बाद कार्य का नाश होगा तो उस अन्तराल के समय में, जो कारण के नाश और कार्य के नाश के बीच रहता है, कार्य कहाँ रहेगा? कारण तो नष्ट हो चुका और अन्तिम कारण जो परमाणु हैं, उनमें वह कार्य रह नहीं सकता क्योंकि उन दोनों के अन्तराल में अनेक व्यवधान हैं। यह सिद्धान्त ऐसा ही है जैसे कोई कहे कि घर की छत तो न गिराई जाय, पर नींव उखाड़ दी जाय। अतः प्राचीन नैयायिकों की दृष्टि असंगत लगती है। नव्यनैयायिकों का यह कहना कि कारण पदार्थों के संयोग का नाश होने पर कार्य का नाश हो जाता है, जहाँ एक ओर प्राचीननैयायिकों के सिद्धान्त से मेल खाता है, वहाँ दूसरी ओर वेदान्त के सिद्धान्तों से भी मेल खा सकता है। इस प्रकार यह मत अधिक संगत लगता है।

प्राचीन नैयायिक अवांतरप्रलय और महाप्रलय के सिद्धान्त को भी मानते हैं। अवांतरप्रलय में केवल मूर्त पदार्थ नष्ट होते हैं जबकि महाप्रलय में समस्त मूर्त और अमूर्त पदार्थ प्रकृति में विलीन हो जाते हैं। दीपिका में प्रलय के सिद्धान्त को मानने के लिये प्रमाणस्वरूप श्रुति उद्धृत की है—घाता यथापूर्वमकल्पयत्।^२

परमाणुवाद—जिन चार द्रव्यों का विवेचन हमने अब तक किया उनके विकास को समझने के लिये नैयायिकों का परमाणुवाद समझना जरूरी है। पृथ्वी, जल, तेज और वायु के जो ऊपर नित्य और अनित्य भेद किये गये हैं, वे भी इस परमाणुवाद पर आधारित हैं। दीपिका में परमाणुओं की सत्ता को प्रमाणित करने के लिये निम्न तर्क दिया है: प्रत्येक दृश्य पदार्थ अवयवी है। क्योंकि हर दृश्य पदार्थ के तीन आयाम होते हैं, लम्बाई, चौड़ाई

१. शांकरभाष्य, ब्रह्मसूत्र २.३.१४.

२. अबल्ये और बोडास, तर्कसंग्रह पृ० १२१

३. ऋग्वेद १०, १९०, ३

और मोटाई और जिस पदार्थ के ये तीन आयाम हैं, उसका अवयव भी अवयव होगा। एक रेखा की लम्बाई होती है क्योंकि यह बहुत से बिन्दुओं का समूह है। एक तल की लम्बाई और चौड़ाई होती है क्योंकि यह बहुत सी रेखाओं का समूह है। किन्तु रेखागणित की बिन्दु की जो परिभाषा है, उसके अनुसार उसकी लम्बाई, चौड़ाई या मोटाई कुछ भी नहीं होती। और इस प्रकार वह केवल एक वैचारिक सत्ता मात्र है। अब यदि प्रत्येक दृश्य पदार्थ को साव्यव मानें तो यह भी मानना पड़ेगा कि उसके अवयवों को पृथक्-पृथक् किया जा सकता है। इस प्रकार यदि अवयवों को विभाजित करते चले तो एक ऐसी स्थिति आ जाएगी कि जहाँ हमें यह विभाजन रोक देना पड़ेगा। यही स्थिति न्याय का परमाणु और वैज्ञानिकों का एटम है। यही परमाणुवाद का मूल आधार है। एक अणु से द्व्यणु और द्व्यणु से त्रसरेणु बनता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि महत्त्व अणुत्व से सर्वथा भिन्न है और इस प्रकार अणु से महत्त्व उत्पन्न नहीं हो सकता। इस प्रकार द्व्यणु और त्रसरेणु भी परिमाण वाले होते हैं, अणु नहीं। परमाणु की यह परिभाषा वाक्यवृत्ति में दी है—जालसूर्यमरीचिस्थं यत्सूक्ष्मं दृश्यते रजः। तस्य षष्ठतमो भागः परमाणुः स उच्यते ॥

इस प्रकार यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि अणु और द्व्यणु के परिमाण में क्या अन्तर है? परमाणु के परिमाण को पारिमाणह्य कहा जाता है। परिमाणस्य स्वसमानजातीयोत्कृष्टपरिणामजनकत्वनियमात् महदारब्धस्य महत्तरत्ववत् अणुजन्यस्याणुतरत्वप्रसङ्गात्।^१ अर्थात् द्व्यणु को अणु से अधिक सूक्ष्म होना चाहिए किन्तु यह असम्भव है, अतः यहाँ नैयायिक एक अपवाद नियम मानते हैं। वे यह कहते हैं कि प्रत्येक कार्य के परिमाण में तीन कारण होते हैं—परिमाण, संख्या और अवयवों की व्यवस्था। कणाद ने एक सूत्र दिया है—कारणबहुत्वाच्च और यहाँ 'च' शब्द से कारणमहत्त्व और प्रचयविशेष का ज्ञान होता है।^२ त्र्यणुक के

१. उपस्कारभाष्य, वैशेषिक दर्शन, ४. १. २.

२. न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, १५ (पृ. ४१)

३. वस्तुतः हमारे द्वारा उद्धृत वैशेषिक सूत्रों में (देखिये पुस्तकसूची) सूत्र ही इस प्रकार है—कारणबहुत्वात् कारणमहत्त्वात् प्रचयविशेषाच्च महत्—वैशेषिकदर्शन ७. १, १२ अन्यत्र, कारणबहुत्वाच्च, इतना ही है।

सम्बन्ध में कारणमहत्त्व और प्रचय दोनों महत्त्वपूर्ण हैं किन्तु अणुत्व में संख्या ही महत्त्वपूर्ण है। इस सम्बन्ध में कुछ मतभेद है। यह प्रश्न आता है कि त्रसरेणु के छठे भाग पर ही क्यों रुका जाय ? कुछ लोग द्रवणुक पर रुकने के पक्षपाती हैं किन्तु कोई भी परमाणु से आगे नहीं जाना चाहता। हाँ, वेदान्ती और सांख्य अवश्य परमाणु से आगे जाते हैं। कहीं भी जाकर हमें रुकना तो होगा ही अन्यथा अनवस्था दोष आ जाएगा। अतः परमाणु पर ही रुकना ठीक है। इसी तर्क को इस रूप में भी कहा जाता है कि घट पट से भिन्न क्यों है ? इसका यह उत्तर दिया जाता है। कि उनके अवयव भिन्न हैं। किन्तु अन्ततः परमाणु भेद ही उनकी भिन्नता का कारण मानना होगा कि उसके परमाणु उससे भिन्न हैं। अन्ततः यह भेद परमाणुओं पर ही आकर रुकेगा। क्योंकि ये परमाणु अविभाज्य हैं, अतः उनका आकार भी समान ही होना चाहिए। अतः यदि मेरु में और एक छोटे कण में अन्तर है तो वह उनकी परमाणुओं की संख्या के कारण है। यदि हम यह न मानें तो यह मानना पड़ेगा कि उन दोनों के परमाणु भिन्न-भिन्न आकार वाले हैं किन्तु तब उनके भिन्न-भिन्न आकार का कोई कारण देना पड़ेगा। और यदि उन्हें भिन्न आकार वाला न मानकर एक ही संख्या वाला माना जाए, तो मेरु और सर्षप में तुल्यता ही जाएगी। परमाणुवाद के द्वारा इस कठिनाई को दूर किया जा सकता है। परमाणुगत संख्या को भेदक मानने से इस दोषका परिहार हो जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि किसी वस्तु का परमाणु अपने बहुत्व, महत्त्व और प्रचय विशेष के कारण भिन्न-भिन्न आकारों वाले पदार्थों को बना सकता है।

भारतीय और यूनानी परमाणुवाद : भारतीय परमाणुवाद बहुत कुछ यूनानी परमाणुवाद से मिलता जुलता है। ल्यूक्रीपस ने यह सिद्ध किया कि हर पदार्थ के कुछ अत्यन्त सूक्ष्म परमाणु होते हैं जिनकी प्रकृति और आकृति एक दूसरे से भिन्न होती है। ऐपीक्यूरस ने उन्हें एटम नाम दिया। उसने इन परमाणुओं में एक आयताकार गति मानी जिसके अनुसार एक ही जाति के परमाणु परस्पर मिल जाते हैं। इन नित्य अविनाशी परमाणुओं से ही उसने सृष्टि की उत्पत्ति मानी। एम्पीडोक्लस और अनेक्सेगोरस ने परमाणुओं से ही मन और आत्मा को भी उत्पन्न माना। ल्यूक्रीपस और डेमोक्रीटस दोनों

ही मन और आत्मा को परमाणुओं से बना हुआ नहीं मानते थे किन्तु कणाद मन को ही अणुरूप मानते थे यद्यपि आत्मा की वे पृथक् सत्ता मानते थे। आधुनिक युग में डाल्टन ने जिस परमाणुवाद का प्रचार किया, वह कणाद के परमाणुवाद से पर्याप्त मिलता है। यद्यपि शंकराचार्य और अन्य वेदान्ती आचार्यों की आलोचना ने परमाणुवाद की लोकप्रियता कम कर दी, किन्तु तब भी इस सिद्धान्त के मौलिक उद्भावक के रूप में कणाद का कम महत्व नहीं है।^१

शब्दगुणकमाकाशम् । तच्चैकं विभु नित्यं च ॥

शब्द है गुण (समवायसम्बन्ध से) जिसका वह आकाश है और वह एक, सर्वव्यापक तथा नित्य है।

(त. टी.) आकाशं लक्षयति—शब्दगुणकमिति । नन्वाकाशमपि किं पृथिव्यादिवन्नाना? । नेत्याह—तच्चैकमिति । भेदे प्रमाणाभावादित्यर्थः । एकत्वादेव सर्वत्रोपलब्धे विभुत्वमङ्गीकर्तव्यमित्याह—विभ्विति । सर्वमूर्तद्रव्यसंयोगित्वं विभुत्वम् । मूर्तत्वं परिच्छिन्नपरिमाणवत्त्वं क्रियावत्त्वं वा । विभुत्वादेवात्मवन्नित्यमित्याह—नित्यं चेति ॥

आकाश

आकाश की परिभाषा में यह विशेषता है कि जहाँ अन्य परिभाषाओं में गुण शब्द नहीं दिया गया है, वहाँ आकाश की परिभाषा में गुण शब्द भी दिया गया है, वाक्यवृत्ति और सिद्धान्तचन्द्रोदय के अनुसार इस शब्द का यहाँ समावेश भाट्टमीमांसकों के इस मत का खण्डन करने के लिये किया गया है, कि शब्द गुण नहीं है प्रत्युत पदार्थ है। न्यायबोधिनीकार और नीलकण्ठ का कहना है कि यहाँ गुण शब्द का प्रयोग विशेष गुण के अर्थ में किया गया है। अर्थात् इस शब्द के द्वारा यहाँ यह बतलाया गया है कि शब्द आकाश का गुण है और केवल आकाश का ही गुण है, अन्य किसी पदार्थ का नहीं। रूप, रस, इत्यादि अनेक पदार्थों में पाये जाते हैं किन्तु शब्द केवल आकाश में ही पाया जाता है और यही बतलाने के लिये यहाँ गुण शब्द का प्रयोग है। जहाँ तक मीमांसा के इस मत का सम्बन्ध है कि शब्द पदार्थ है, उसका खण्डन तो पहले ही शब्द को २४ गुणों के अन्तर्गत मानकर कर दिया गया है।

सर्वदर्शनसंग्रह में आकाश की एक दूसरी परिभाषा दी गई है— संयोगाजन्यजन्यविशेषगुणसमानाधिकरणविशेषाधिकरणम् ।^१ अर्थात् आकाश एक विशेष गुण का आश्रय है, और वह गुण जन्य है किन्तु संयोगजन्य नहीं है । यद्यपि आत्मा भी विशेषगुण—समानाधिकरण—विशेषाधिकरण तो है किन्तु जन्य विशेष गुण उसमें नहीं है । जबकि आकाश में एक जन्य विशेष गुण अर्थात् शब्द रहता है । यद्यपि जन्य विशेष गुण तो परमाणुओं में भी रहते हैं, किन्तु परमाणुओं के वे जन्य विशेष गुण संयोगजन्य हैं । इस परिभाषा की भी अन्ततः यही परिणति है कि आकाश शब्द-गुण वाला है । अंग्रेजी का ईथर शब्द आकाश के लिये प्रयोग किया जाता है क्योंकि ईथर भी सर्वव्यापक है किन्तु ईथर केवल प्रकाश और ताप का माध्यम है जबकि आकाश शब्द का माध्यम है ।

कणाद ने अपने वैशेषिक सूत्रों में यह सिद्ध किया है कि क्योंकि शब्द किसी अन्य द्रव्य का गुण नहीं हो सकता अतः वह आकाश का गुण है ।^२ वस्तुस्थिति यह है कि परम्परा से चले आने वाले पांच तत्त्वों में आकाश की गणना प्रारम्भ से ही की जाती थी और नैयायिकों ने अपने सिद्धान्त के अनुकूल बनाकर उसका भी यहां समावेश कर लिया । यहां आकाश को एक बतलाया गया है क्योंकि जो हम घटाकाश या मठाकाश का प्रयोग करते हैं, वह केवल उपाधि के कारण है । आकाश सर्वव्यापक है, अतः उसे नित्य तो होना ही चाहिए । वह विभु है । दीपिका में विभुत्व की यह परिभाषा दी है—सर्वमूर्तद्रव्य-संयोगित्वम् । और मूर्तत्व की परिभाषा परिच्छन्नपरिमाणत्वम् दी है । अर्थात् जिसका परिमाण सीमित है, वह मूर्त है और जिसका समस्त मूर्त पदार्थों से सम्बन्ध है, वह विभु है । न्यायबोधिनी में मूर्तत्व को क्रियावद्द्रव्यत्वम् कहा है । ये दोनों परिभाषाएं लगभग एक जैसी हैं क्योंकि वही द्रव्य जो सीमित परिमाण वाला है, क्रिया कर सकता है । मूर्त द्रव्य पांच हैं—आकाश, पृथ्वी, तेज, वायु और मन । इनकी गणना और गुणों का वर्णन भाषापरिच्छेद में इस प्रकार किया गया है—

क्षितिर्जलं तथा तेजः पवनो मन एव च ।

घरापरत्वमूर्तत्वक्रियावेगाश्रया अमी ॥^३

१. सर्वदर्शनसंग्रह, पृ. २१९

२. परिशेषाल्लिङ्गमाकाशस्य, वैशेषिकसूत्र, २. १. २९

३. भाषापरिच्छेद, २५

इनमें से प्रथम चार मूर्त हैं और भूत भी । किन्तु मनस् केवल मूर्त है भूत नहीं है । और आकाश केवल भूत है मूर्त नहीं है । मूर्त द्रव्य सीमित परिमाण वाले होते हैं । जबकि भूत द्रव्य के लिए यह आवश्यक शर्त नहीं है । उनके लिये आवश्यक यह है कि वे किसी कार्य का उपादानकारण बनें और इसीलिये मन जो किसी कार्य का उपादानकारण नहीं बनता, भूत द्रव्य नहीं है और आकाश शब्द का उपादानकारण बनने के कारण भूत है । आत्मा ज्ञान का अधिकरण है, उपादानकारण नहीं है और यह न भूत है, न मूर्त ।

अतीतादिव्यवहारहेतुः कालः । स चंको विभुर्नित्यश्च ॥

अतीतादि व्यवहार का जो (निमित्त) कारण हो वह काल और वह एक, सर्वव्यापक और नित्य है ।

(त. दी.) कालं लक्षयति—अतीतेति । सर्वाधारः कालः सर्वकार्यनिमित्तकारणं च ॥

काल

अन्नम्भट्ट ने काल की जो परिभाषा दी है वह व्यवहार के लिये ठीक है किन्तु उससे काल के तात्त्विक स्वरूप पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता । अन्नम्भट्ट ने भूत, भविष्य आदि के व्यवहार के हेतु को काल कहा है । वाक्यवृत्ति में व्यवहार का अर्थ वाक्य प्रयोग रूप किया है । हेतु शब्द का अर्थ यहां असाधारण निमित्तकारण है । काल व्यवहार का निमित्त कारण है जबकि आकाश उसका उपादानकारण है क्योंकि व्यवहार शब्द के अतिरिक्त कुछ नहीं है । काल भूत भविष्यादि व्यवहार का असाधारण कारण है, इसलिये यह असाधारण निमित्तकारण है जबकि यह अन्य भी बहुत से कार्यो का निमित्त कारण है, किन्तु वहाँ इसकी असाधारण कारणता नहीं है । इस प्रकार यहाँ हेतु शब्द का असाधारण कारण अर्थ करने से आकाश में और दिशा आदि में अतिव्याप्ति नहीं होती और यह काल जो अन्य पदार्थों का भी कारण होता है, उसमें अव्याप्ति नहीं होती । किन्तु यहाँ काल की जो परिभाषा दी है उससे अतिरिक्त इसके कि जो हमारे भूत, भविष्य और वर्तमान के प्रयोग का कारण बनता है, वह काल है, कुछ ज्ञान नहीं होता । यह हमारे प्रतिदिन ज्ञान में आता है और हम इसे स्वतन्त्र द्रव्य इसी कारण मानते भी हैं ।

विश्वनाथ ने काल की एक दूसरी परिभाषा दी है—

जन्यानां जनकः कालो जगतामाश्रयो मतः ।

परापरत्वधीहेतुः क्षणादिः स्यादुपाधितः ॥^१

इसे संक्षेप में इस रूप में भी कह सकते हैं—परापरव्यतिकर-यौगपद्यायौगपद्यचिरक्षिप्रप्रत्ययकारणं द्रव्यं कालः ।^१ अर्थात् जिसके द्वारा हमें पौर्वापर्य या यौगपद्य या चिर और क्षिप्रता का ज्ञान होता है, वह काल है । इस परिभाषा में अन्नम्भट्ट के व्यवहार शब्द की जगह प्रत्यय शब्द का प्रयोग है । व्यवहार का अर्थ है भाषा और प्रत्यय का अर्थ है ज्ञान । वस्तुतः भाषा और ज्ञान अन्योन्याश्रित हैं ।

व्यवहार और प्रत्यय का हेतु होने के अतिरिक्त काल का वास्तविक स्वरूप क्या है, यह अभी भी विवादास्पद है । सांख्यदर्शन ने काल को आकाश के अन्तर्गत माना जबकि कुछ नव्य नैयायिक काल और दिशा को ईश्वर रूप मानते हैं । काल अमूर्त है, और अदृश्य है, अतः केवल अनुमेय है । जो परत्व अपरत्वका असमवायी कारण है वह काल है ।^१ काल के ही उपाधिक भेद क्षणादि हैं ।

जिस प्रकार घटाकाश और मठाकाश उपाधिजन्य होने के कारण असरय हैं उसी प्रकार काल भी एक है, उसके भेद अवास्तविक हैं । कुछ नैयायिक क्षणात्मक काल को ही प्रमुख मानते हैं, किन्तु अन्नम्भट्ट उनके समर्थक नहीं हैं । आधुनिक समय में काण्ट जैसे दार्शनिकों ने काल का अत्यन्त सूक्ष्म विवेचन किया है और यह माना है कि काल और आकाश हमारी सब अनुभूतियों में अनुस्यूत रहने वाले अन्तिम तथ्य हैं ।

प्राच्यादिव्यवहारहेतुर्दिक् । सा चैका, विम्ब्वी नित्या च ॥

प्राची आदि व्यवहार की जो कारण हो वह दिशा है । और वह एक, सर्वव्यापिनी तथा नित्य है ।

(त. दी.) दिशो लक्षणमाह—प्राचीति । विगपि कार्यमात्रे निमित्तकारणम् ।

१. भाषापरिच्छेद, ४५-४६

२. उपस्कारभाष्य, वैशेषिक सूत्र, ७. १. २५

३. उपरिबत्, २.२. ६

दिक्

दिक् की परिभाषा भी लगभग काल की परिभाषा के आधार पर दी गई है। विश्वनाथ ने इसकी परिभाषा दी है—दूरान्तिकादिधीहेतुः^१ सर्वदर्शनसंग्रह में इसकी परिभाषा और भी अधिक पारिभाषिक शब्दावलि में दी गई है—अकालत्वे सत्यविशेषगुणा महती^२। अर्थात् दिक् वह है जो काल से भिन्न है और महान् है और जिसमें कोई विशेष गुण नहीं है। दिशा के जो चार या दस भेद माने जाते हैं वे उपाधि-जन्य हैं। यद्यपि समय और दिशा का भेद स्पष्ट है किन्तु वह भेद बहुत सूक्ष्म है। काल कालिकपरत्व का कारण है और दिक् देशिकपरत्व का। काल की उपाधि या तो कोई जन्य पदार्थ है या क्रिया। किन्तु दिक् की उपाधि मूर्त पदार्थों से सम्बद्ध है। एक दूसरा भेद भी काल और दिक् में किया जाता है—नियतोपाध्युन्नायकः कालः। अनियतोपाध्युन्नायिका दिक्^३। अर्थात् काल के सम्बन्ध निरन्तर होते हैं क्योंकि जब एक पदार्थ की अपेक्षा किसी काल को भूत या भविष्य कहा जाता है तो उस पदार्थ की अपेक्षा वह काल भूत या भविष्य ही बना रहता है। किन्तु दिक् के क्षेत्र में एक दिशा एक पदार्थ के पूर्व में है, तो दूसरे समय वही दिशा उस पदार्थ के पश्चिम में भी हो सकती है किन्तु यह भेद बहुत सूक्ष्म दृष्टि से नहीं किया गया। क्योंकि जो घटना एक समय की अपेक्षा भूतकाल की है, वही घटना दूसरे समय की अपेक्षा वर्तमान या भविष्यकाल की हो सकती है। आकाश की तरह दिक् भी अनुमेय है।

दिक् और आकाश का अन्तर बहुत सूक्ष्म है, तथापि वह स्पष्ट है। आकाश भूत है, दिक् नहीं है। आकाश का शब्द विशेष गुण है, दिक् का कोई विशेष गुण नहीं है। दिक् काल की तरह सभी कार्यों का साधारण कारण है, किन्तु आकाश पृथ्वी आदि की तरह एक विशेष गुण का साधारण कारण है अर्थात् शब्द का। आकाश का सम्बन्ध भूतों से है, दिक् का सम्बन्ध मन से। आकाश की अपनी स्वतन्त्र सत्ता है, दिक् प्रमाता के अनुभव पर आधारित है। किन्तु प्रश्न यह है कि नैयायिकों ने आकाश और दिक् का जो स्वरूप दिया है, चाहे वह स्वरूप परस्पर भिन्न हो, किन्तु इन दोनों को पृथक्-पृथक् मानने की आवश्यकता ही क्या है ? ऐसा लगता है

१. भाषापरिच्छेद, ४६

२. सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० २१९

३. उपस्कारभाष्य, वैशेषिक सूत्र. २. २. १०

कि शब्द को उत्पन्न करने वाले आकाश से सभी कार्यों के साधारण कारण रूप, स्थान को भिन्न मानना आवश्यक था । जो शब्द को जन्म देता है, वह भूत होना चाहिए किन्तु जो परत्व अपरत्व जैसे सम्बन्धों का निमित्त कारण मात्र है, उसकी सत्ता वास्तविक नहीं, प्रत्युत मानसिक है । ऐसा लगता है कि पंचभूतों के अन्तर्गत आकाश को परम्परा के अनुसार मान लेने के बाद नैयायिकों को एक ऐसे अतिरिक्त पदार्थ की भी कल्पना करनी पड़ी जो परत्व, अपरत्व जैसे सम्बन्धों का कारण बने ।

ज्ञानाधिकरणमात्मा । स द्विविधः—परमात्मा जीवात्मा च । तत्रेश्वरः सर्वज्ञः परमात्मैक एव । जीवात्मा प्रतिशरीरं भिन्नो विभुर्नित्यश्च ॥

ज्ञान का जो (समवायसम्बन्ध से) अधिकरण हो वह आत्मा है । वह दो प्रकार का है—परमात्मा और जीवात्मा । इनमें सर्वज्ञ परमात्मा तो एक ही है । जीवात्मा प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न, सर्वव्यापक और नित्य है ।

(त. टी.) आत्मनो लक्षणमाह—ज्ञानेति ॥ आत्मानं विभजते—स द्विविध इति । परमात्मनो लक्षणमाह—तत्रेति नित्यज्ञानाधिकरणत्वमीश्वरत्वम् ॥ नन्वीश्वरस्य सद्भावे किं प्रमाणम् ? न तावत्प्रत्यक्षम्, तद्वि बाह्यमाभ्यन्तरं वा ? नाद्यम्, अरूपिद्रव्यत्वात् । नान्यम्, आत्मसुखादिव्यतिरिक्तत्वात् । नाप्यनुमानम्; लिङ्गाभावात्नाप्यागमः, तथाविधागमाभावादिति चेत्—न; क्षित्यंकुरादिकं कर्तृजन्यं कार्यत्वाद्, घटवदित्यनुमानस्य प्रमाणत्वात् । उपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमत्त्वं कर्तृत्वम् । उपादानं समवायिकारणम् । सकलपरमाण्वाविसूक्ष्मदर्शित्वात्सर्वज्ञत्वम् । “यः सर्वज्ञः स सर्ववित्” इत्याद्यागमोऽपि तत्र प्रमाणम् ॥

जीवस्य लक्षणमाह—जीव इति । सुखाद्याश्रयत्वं जीवलक्षणम् । ननु ‘मनुष्योऽहं, ब्राह्मणोऽहम्’ इत्यादी सर्वत्राहंप्रत्यये शरीरस्यैव विषयत्वाच्छरीरमेवात्मेति चेत्—न; शरीरस्यात्मत्वे करपादादिनाशे सति शरीरनाशादात्मनोऽपि नाशप्रसङ्गात् । नापीन्द्रियाणामात्मत्वम्; तथात्वे ‘योऽहं घटमब्रूक्षं सोऽहमिदानीं त्वच्चा स्पृशामि’ इत्यनुसंधानाभावप्रसङ्गादन्यानुभूतेऽन्यस्यानुसंधानायोगात् । तस्माद्देहेन्द्रियव्यतिरिक्तो जीवः । सुखदुःखादिवंचिन्त्याप्रतिशरीरं भिन्नः । स च न परमाणुपरिमाणः; शरीरव्यापिसुखाद्यनुपलब्धिप्रसङ्गात् । न मध्यमपरिमाणः; तथा सत्यनित्यत्वप्रसङ्गेन कृतनाशाकृताभ्यागमप्रसङ्गात् । तस्मान्नित्यो विभुर्जीवः ॥

आत्मा

आत्मा को ज्ञानाधिकरण कहा है। यहां अधिकरण से अभिप्राय समवाय सम्बन्ध से अधिकरण है अन्यथा कालिक और देशिक सम्बन्ध से तो काल और दिक् सभी पदार्थों के अधिकरण हैं। आत्मा को दो प्रकार का माना गया है—परमात्मा और जीवात्मा। परमात्मा सर्वज्ञ है जबकि जीवात्मा विभु, नित्य और प्रत्येक प्राणी में पृथक्-पृथक् है। अमूर्त होने के कारण आत्मा केवल अनुमेय है। इन्द्रियां और उनके विषय का पारस्परिक सम्बन्ध यह सिद्ध करता है कि उनका ज्ञाता और भोक्ता कोई होना चाहिए। करणव्यापारः सकर्तृकः। करणव्यापारत्वात्। छिदिक्रियायां वास्यादिव्यापारवत्^१ अर्थात् इन्द्रियों के व्यापार का कोई कर्ता होना चाहिए क्योंकि प्रत्येक कारण का कोई कर्ता होता है जिस प्रकार छेदन की क्रिया में परशु। कणाद का सूत्र भी लगभग यही तर्क देता है—इन्द्रियार्थप्रसिद्धिरिन्द्रियार्थेभ्योऽर्थान्तरस्य हेतुः^२। किन्तु गौतम के अनुयायी अर्थात् नैयायिक इस अनुमान का प्रयोग केवल परमात्मा की सिद्धि के लिए आवश्यक मानते हैं, जीवात्मा की सिद्धि के लिए नहीं, क्योंकि उनके अनुसार जीवात्मा का प्रत्यक्ष साक्षात् किया जा सकता है। आत्मा की सत्ता के लिए एक दूसरा तर्क भी दिया जाता है—बुद्ध्यादयः पृथिव्याद्यष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्याश्रिताः। पृथिव्याद्यष्टद्रव्यानाश्रितत्वे सति गुणत्वात्। यन्नैवं तन्नैवं, यथा रूपादि।^३ अर्थात् बुद्धि से लेकर अधर्म पर्यन्त जो आठ गुण हैं उनका कोई अधिकरण होना चाहिए और वह अधिकरण पृथ्वी आदि जड़ पदार्थ नहीं हो सकते। अतः आत्मा की सत्ता सिद्ध होती है।

आत्मा की दो परिभाषायें हैं—आत्मत्वसामान्यवान् तथा अमूर्तसमवेत-द्रव्यत्वापरजातिमत्त्वम्^४। इनमें दूसरी परिभाषा के अनुसार आत्मत्व अमूर्त-पदार्थ-समवेत हैं। आकाश, काल, दिक् और आत्मा चार अमूर्त पदार्थों में से प्रथम तीन तो केवल एक-एक ही हैं, अतः उनकी जाति नहीं हो सकती। आत्मत्व ही एक

१. न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, पृ० २०९

२. वैशेषिकसूत्र, ३, १-२-२

३. उपरिबत्, ३.२.४

४. तर्ककौमुदी, पृ० ३

५. सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० १०४

जाति हो सकती है। यह कहा जा सकता है कि आत्मत्व भी सब आत्माओं में नहीं रह सकता क्योंकि आत्मा भी दो प्रकार की है—जीवात्मा और परमात्मा। किन्तु इसका उत्तर यह कहकर दिया जाता है कि सभी प्रकार की आत्माओं में जान रहता है, अतः उनकी एक जाति हो सकती है। किन्तु इस उत्तर से यह स्पष्ट हो जाता है कि नैय्यायिक दो भिन्न प्रकार के पदार्थों में भी यदि एक समान गुण देखते थे तो उसे एक जाति मान लेते थे। परमात्मा और जीवात्मा में से एक सर्वज्ञ और एक है, दूसरा अल्पज्ञ और अनेक है। एक स्रष्टा है, दूसरा उस स्रष्टा के हाथ का खिलौना। एक सुख दुःख रहित है, दूसरा सुख दुःख का अनुभव करता है। फिर भी उन दोनों को एक ही जाति के अन्तर्गत मान लिया गया है जबकि जिस एक गुण, ज्ञान, के आधार पर उनकी एक जाति मानी गई है, वह ज्ञान भी परमात्मा में नित्य है और जीवात्माओं में अनित्य। इसी कारण आत्मा की परिभाषा ज्ञानाधिकरण दी गई है।

परमात्मा और जीवात्मा को एक ही जाति में जिस प्रकार रखा गया है, उससे कुछ लोगों को यह अनुमान है कि कणाद का अभिप्राय आत्मा से केवल जीवात्मा था, परमात्मा नहीं और बाद के टीकाकारों ने परमात्मा को उसमें जोड़ दिया। जो तर्क जीवात्मा को सिद्ध करने के लिये दिये जाते हैं, वे परमात्मा पर लागू भी नहीं होते। कणाद या गौतम ने कहीं परमात्मा का नामतः निर्देश भी नहीं किया। कुछ लोगों का कहना है कि मूलतः न्याय और वैशेषिक दर्शन नास्तिक थे। किन्तु इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि गौतम और कणाद का उद्देश्य दृश्यमान् जगत् का विश्लेषण करना है और इसलिए उन्होंने परमात्मा की चर्चा नहीं की। स्वयं प्रशस्तपाद ने भी परमात्मा का कोई निर्देश नहीं किया। किन्तु उसके टीकाकार श्रीधर ने जीवात्माओं के साथ परमात्मा का भी उल्लेख किया। यद्यपि परमात्मा में केवल ६ और जीवात्मा में १४ गुण हैं किन्तु नैय्यायिक प्रायः जब आत्मा कहते हैं तो उनका उद्देश्य जीवात्मा से ही होता है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि नैय्यायिकों ने अन्य जड़ पदार्थों के साथ ही आत्मा का भी उल्लेख कर दिया है और इस प्रकार जड़ और चेतन में जो मौलिक भेद है, उसे कोई महत्त्व नहीं दिया।

ईश्वर की सिद्धि—तर्कदर्शिका में ईश्वर की सिद्धि के लिये तर्क दिया

गया है। यह तर्क चार्वाक और बौद्ध लोगों के खण्डन के रूप में है जिनका यह कहना है कि परमात्मा न तो प्रत्यक्षगोचर है, न बुद्धिगम्य और न उसमें सुख दुःख की अनुभूति है। परमात्मा अनुमान से भी सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि वह ऐसा पदार्थ है जिसके समर्थन में कोई तत्सदृश उदाहरण नहीं दिया जा सकता। आगम प्रमाण तो इसलिए नहीं माना जा सकता कि प्रथम तो आगम सर्वसम्मत नहीं है और दूसरे वेदों की प्रामाणिकता ईश्वर के अस्तित्व पर ही आधारित है। दीपिकाकार ने ईश्वर की सिद्धि के लिये निम्न अनुमान दिया है—क्षित्यंडकुरादिकं कर्तृजन्यं कार्यत्वात् । यद्यत्कार्यं तत्कर्तृजन्यं यथा घटः । अर्थात् विश्व यदि कार्य है तो इसका कोई कर्ता भी होना चाहिए और यही कर्ता परमात्मा है। यहां यह तर्क चार मान्यताओं पर आधारित है—१. सर्वत्र कार्यकारण भाव है, अर्थात् प्रत्येक कार्य का कोई कारण होता है। २. प्रत्येक कार्य का कर्ता कोई चेतन होता है। ३. संसार एक कार्य है। ४. इस कार्य का कर्ता एक असाधारण सत्ता है। कार्यकारण सम्बन्ध तो स्वतः सिद्ध है और अनुभव सिद्ध भी है। दूसरे सत्य को भी हम अनुभव के आधार पर सिद्ध कर सकते हैं। सृष्टि के लिये परमाणुओं में गति चाहिए और उस गति के पीछे कोई प्रयत्न या इच्छा चाहिए। और इच्छा केवल चेतन सत्ता में ही हो सकती है और यह चेतन सत्ता ऐसी होनी चाहिए जो संसार की सृष्टि से पूर्व भी हो। संसार एक कार्य है—यह तो देखने में ही आता है क्योंकि यहां पदार्थों का जन्म, वृद्धि और मृत्यु होती है। इसके अतिरिक्त संसार में प्रत्येक घटना इतनी नियमितता से हो रही है कि हमें यह मानना पड़ेगा कि उसके पीछे किसी बुद्धिमान् सत्ता का हाथ है। वह केवल अदृष्ट की रचना नहीं हो सकती और ईश्वर के सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् मानने पर ही यह सम्भव होगा कि हम उसे सृष्टि का स्रष्टा और ध्वंस करने वाला मान सकें।

दीपिका में कर्तृत्व की यह परिभाषा दी है—उपादानगोचरापरोक्षज्ञानचि-
कीर्षाकृतिमत्त्वम् । अर्थात् कर्ता को उपादान कारण का साक्षात् ज्ञान होना चाहिए, कार्य की इच्छा होनी चाहिए और कार्यानुकूल प्रयत्न होना चाहिए। ज्ञान, इच्छा, और कृति परस्पर सम्बद्ध हैं। बिना ज्ञान के इच्छा और बिना इच्छा के कृति नहीं हो सकती। उपादान कारण का भी प्रत्यक्ष ज्ञान ही कार्यकारी है, परोक्ष ज्ञान नहीं। कुछ विचारकों का मत है कि केवल कृति-
मत्त्व ही कर्तृत्व की पर्याप्त परिभाषा है क्योंकि कृति में ज्ञान और इच्छा तो निहित ही हैं। इस प्रकार ईश्वर को संसार का निर्माण करने के लिये समस्त

पदार्थों के परमाणुओं का, जिनसे यह विश्व बनता है, साक्षात् ज्ञान होना चाहिए, सृजन की इच्छा होनी चाहिए और तदनुकूल प्रयत्न भी होना चाहिए । इनसे ईश्वर सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान स्वतः सिद्ध हो जाता है ।

उदयनाचार्य ने अपनी न्यायकुसुमाञ्जलि में ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित करने के लिए नौ तर्क दिये हैं जो निम्न कारिका में संगृहीत हैं:—

कार्यायोजनधृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः ।

वाक्यात् संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः ॥^१

अर्थात् कार्य, आयोजन, धारणा, पारम्परिक कार्यकुशलता, प्रामाणिकता, श्रुति, उसके वाक्य, संख्या इन कारणों से एक अव्यय सर्वज्ञ सत्ता की स्थिति प्रमाणित होती है । इनमें से प्रथम तर्क तो वही है जिसकी चर्चा हमने ऊपर की कि यदि संसार एक कार्य है तो उसका कर्ता भी एक होना चाहिए । दूसरा तर्क यह दिया जाता है कि परमाणुओं को जोड़कर द्रव्यणु बनाने के लिये भी एक बुद्धिमान कर्ता होना चाहिए । तीसरा तर्क यह है कि संसार को धारण करने वाली शक्ति होनी चाहिए । कारिका में जो 'आदि' शब्द दिया है उसका यह अभिप्राय है कि धारण के साथ-साथ जन्म देने वाली और और ध्वंस करने वाली शक्ति भी माननी होगी । चौथा कारण यह दिया गया है कि जो परम्परा से वस्त्र को बुनने इत्यादि की कलाएँ चली आती हैं, उनका सर्वप्रथम कोई ऐसा आविष्कारक होना चाहिए, जिसने उन्हें किसी से सीखा न हो । छठा कारण वेदों के ज्ञान की प्रामाणिकता है और सातवां कारण स्वयं वेद के वे वाक्य हैं जो ईश्वर की सत्ता बतलाते हैं । आठवां कारण वेदवाक्य हैं जिनका कोई कर्ता होना चाहिये । नवां कारण संख्या है । परमाणुओं में द्वित्वादि संख्या अपेक्षा-बुद्धि-विशेष-विषयत्व रूप है । यह अपेक्षा-बुद्धि जिस चेतन में होगी वही ईश्वर है ।^१ इसके अतिरिक्त भी न्यायकुसुमाञ्जलि में उदयनाचार्य ने यह कहा है कि अदृष्ट को नियमित करने के लिये भी कोई सत्ता माननी होगी । यहां जो तर्क ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने के लिये दिये गये हैं, उनमें से बहुतें का प्रयोग अरस्तू ने और पाले जैसे आधुनिक लेखकों ने भी किया है और इस प्रकार

१. न्यायकुसुमाञ्जलि, ५.१

२. प्रशस्तपादभाष्य, पृ. १३१

न्यायसूत्रों में जिस ईश्वर की सत्ता केवल घुंघले रूप में दी गई थी, उसकी सत्ता अब विशेष रूप से सिद्ध की गई ।

सभी नैयायिक ईश्वर की सत्ता को तो मानते हैं, पर उसके स्वरूप के सम्बन्ध में सहमत नहीं हैं । कुछ उसको किसी प्रकार का अदृष्ट न होने के कारण अशरीरी मानते हैं, क्योंकि शरीर को भोगायतन माना गया है और भोग अदृष्ट के बिना नहीं होता । एक दूसरे मत के लोग यह मानते हैं कि ईश्वर के अदृष्ट न होने पर अन्य जीवों के अदृष्टाधीन उसका शरीर हो सकता है । कुछ लोग परमाणुओं को ईश्वर का शरीर मानते हैं । कुछ लोग परमाणुओं को आकाश का शरीर मानते हैं । एक अन्य मत यह है कि एक तो ईश्वर का अपना शरीर है और एक उसका शरीर यह संसार है । एक ऐसा विचित्र मत भी है कि जिस प्रकार प्रेत किसी मनुष्य शरीर को धारण कर लेता है, उसी प्रकार ईश्वर भी शरीर को धारण कर लेता है । मूल प्रश्न यह है कि बिना शरीर के और इन्द्रियों के ईश्वर सृजन कैसे कर सकता है ?

संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, बुद्धि, इच्छा और प्रयत्न—ईश्वर के ये आठ गुण हैं । उसमें धर्म अधर्म नहीं है । उसमें दुख भी नहीं है । किन्तु इस सम्बन्ध में मतभेद है कि उसमें आनन्द है या नहीं । नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म—जैसे श्रुति वाक्यों में नव्य नैयायिक आनन्द का अर्थ सुख मानते हैं किन्तु प्राचीन नैयायिक आनन्द का अर्थ केवल दुःखाभाव मानते हैं ।

दीपिका में आत्मा की परिभाषा 'सुखाद्याश्रयः' कहकर दी गई है । जीव को कभी इन्द्रियाद्यधिष्ठाता, कभी बन्धमोक्षयोग्य, कभी जन्यजानवान् कहा जाता है । ये सभी गुण जीवात्मा को परमात्मा से विविकृत करने के लिये हैं । चार्वाक के अनुसार शरीर ही आत्मा है क्योंकि जब हम कहते हैं कि मैं ब्राह्मण हूँ या मेरा शरीर है या 'मैं' अन्धा हूँ तो हम 'मैं' से देह को ही कहते हैं चाहे वह देह हो या उसका एक भाग या उसकी एक इन्द्रिय । दीपिका इसके विरुद्ध यह युक्ति देती है कि यदि इन्द्रियों को ही आत्मा माना जाय तो शरीर में बहुत सी आत्माएं माननी होंगी और यह अनुभूति कि जिसने घट को देखा वही उसे छू रहा है, नहीं हो सकेगी क्योंकि घट को देखा चक्षु ने था और छू स्पर्शेन्द्रिय रही है । जीवात्माएं न्यायदर्शन में अनेक मानी जाती हैं क्योंकि हरेक को सुख दुख का पृथक्-पृथक् अनुभव होता है । इसके अतिरिक्त नवजात शिशु

१. तुलनीय गीता, १८.१४

२. भाषापरिच्छेद, ३४

में भी स्तनपान इत्यादि की क्रियायें इतने स्वाभाविक ढंग से होती हैं कि यदि वह पूर्व जन्म के संस्कार लेकर आया हो तभी यह हो सकता है और इस प्रकार पूर्व जन्म का सिद्धान्त भी मानना होगा। आत्मा या तो सर्वव्यापक हो सकती है या मध्यम परिमाण वाली। यदि आत्मा को परिमाण के परिमाण वाली मानें तब तो समस्त शरीर के भिन्न-भिन्न भागों में होने वाले सुख और दुख का अनुभव वह नहीं कर सकेगी। यदि आत्मा को मध्यम परिमाण वाली मानें तो उसके परिमाण को घटा या बढ़ा कर नष्ट किया जा सकेगा। यदि आत्मा को शरीर परिमाणी मानें, जैसा कि जैन लोग मानते हैं, तो यह कठिनाई आएगी कि बालक के छोटे शरीर की छोटी आत्मा बालक के बढ़ जाने पर बढ़ कैसे जाती है और इस प्रकार एक जन्म में चींटी के परिमाण वाली आत्मा दूसरे जन्म में हाथी के परिमाण वाली कैसे हो जाती है। यह भी मानना उस स्थिति में कठिन होगा कि वह एक ही आत्मा है जिसके भिन्न-भिन्न परिमाण हैं। अतः आत्मा को सर्वव्यापक मानना चाहिए। यह कहा जा सकता है कि यदि आत्मा सर्वव्यापक है तो सबके सुख-दुख का अनुभव उसे होना चाहिए। किन्तु इसका उत्तर यह है कि आत्मा स्वयं अनुभव नहीं करती केवल मन की सहायता से अनुभव करती है और यह मन हर शरीर में पृथक्-पृथक् है।

इस सम्बन्ध में एक यह भी चर्चा आती है कि आत्मा को प्रत्यक्ष जाना जा सकता है या वह आकाश के समान अनुमेय है। आत्मा का अनुमान जिन चिह्नों से लग सकता है, वे कणाद के इस सूत्र में दिये गये हैं—प्राणापान-निमेषोन्मेषजीवन-मनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनो लिगानि।^१ आत्मा के चौदह गुण हम पहले ही बतला चुके हैं।

सुखाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रियं मनः । तच्च प्रत्यात्मनियतत्वादनन्तं परमाणुरूपं नित्यं च ॥

जो इन्द्रिय सुखादि के ज्ञान का साधन है वह मन है और वह प्रत्येक आत्मा से (पृथक्-पृथक्) सम्बद्ध होने के कारण अनन्त, परमाणुरूप और नित्य है।

(त. दी.) मनसो लक्षणमाह—सुखेति । स्पर्शरहितत्वे सति क्रियावत्त्वं मनसो लक्षणम् । मनो विभजते—तच्चेति । एकैकस्यात्मन एकैकं मन आवश्यकम्

इत्यात्मनोऽनेकत्वान्मनसोऽप्यनेकत्वमित्यर्थः । परमाणु रूपमिति । मध्यम-परमाणुत्वेऽनित्यत्वप्रसङ्गादित्यर्थः । ननु मनो नाणु, किन्तु विभु, स्पर्शरहित-द्रव्यत्वादाकाशवदिति चेत्, न; मनसो विभुत्व आत्ममनःसंयोगस्यासमवा-यिकारणस्याभावाज्ज्ञानानुत्पत्तिप्रसङ्गात् । न च विभुद्वयसंयोगोऽस्त्विति वाच्यम्; तत्संयोगस्य नित्यत्वेन सुषुप्त्यभावप्रसङ्गात् । पुरीतद्व्यतिरिक्तप्रवेश आत्ममनः संयोगस्य सर्वदा विद्यमानत्वात् । अणुत्वे तु यदा मनः पुरीतति नाड्यां प्रविशति तदा सुषुप्तिः । यदा निःसरति तदा ज्ञानोत्पत्तिरित्यणुत्वसिद्धिः ॥

मन

मन केवल एक साधन ही नहीं है, जिसके द्वारा हम मनन करते हैं, प्रत्युत सुख दुख जैसी आन्तरिक अनुभूतियों के साथ-साथ बाह्य इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किये जाने वाले भावों में भी यह सहायक है । यह नहीं, बल्कि नैयायिक तो मन का वह रूप अधिक प्रधान मानते हैं जो बाह्य पदार्थों को ग्रहण करता है और विचार के साधन के रूप में इसके स्वरूप को गौण मानते हैं । कौसी भी स्थिति हो, यह मानना होगा कि यह स्वयं एक इन्द्रिय भी है और अन्य इन्द्रियों का सहायक भी है । अन्नम्भट्ट ने मन की जो परिभाषा दी है, वह उसके सुख दुख इत्यादि आन्तरिक भावों को उपलब्ध करने वाली इन्द्रिय के रूप में दी गई है । इसके अतिरिक्त यहां पर 'उपलब्धि' शब्द भी ध्यान देने योग्य है क्योंकि मन केवल साधन ही नहीं है, जिस प्रकार कि अन्य इन्द्रियां हैं, प्रत्युत साक्षात् आन्तरिक ज्ञान का भी कारण है । वाक्य वृत्ति में कहा गया है कि यहां सुखादि का अर्थ आत्मा में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले समस्त गुण हैं । यहां यह प्रश्न आता है कि इन्द्रिय शब्द क्यों रखा गया ? यह कहा जाता है कि आत्मा और आत्मा एवं मन का संयोग भी सुखादि के ज्ञान में साधन हैं और उनमें अतिव्याप्ति न हो, इसलिये यहाँ इन्द्रिय शब्द दिया गया है । किन्तु इस अतिव्याप्ति का समाधान 'साधन' पद से भी हो सकता था, क्योंकि साधन का अर्थ करण है और आत्ममनःसंयोग व्यापार है, करण नहीं तथा आत्मा भी करण नहीं प्रत्युत प्रमाता मात्र है । संभव है कि यहां इन्द्रिय शब्द का प्रयोग उन लोगों का खंडन करने के लिये किया गया हो जो मन को इन्द्रिय नहीं मानते ।

दीपिका में मन की परिभाषा यह दी है—स्पर्शरहितत्वे सति क्रियावत्त्वम् । यद्यपि शास्त्रीय दृष्टि से इस परिभाषा में कोई दोष नहीं, किन्तु यह मन के स्वरूप को उतना स्पष्ट नहीं करती, जितना मूल तर्क संग्रह की परिभाषा ।

आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन इन पांच पदार्थों में पहले चार तो सर्वव्यापक होने के कारण क्रियावान् हो नहीं सकते, केवल अन्तिम मन ही क्रियावान् है। मन अणु होने के कारण अनुमेय है। जब भी हम कोई व्यापार देखते हैं तो उसका करण मानना होता है। सिद्धान्तचन्द्रोदय में मन के अनुमान का प्रकार यह दिया है—सुखादिसाक्षात्कारः करणसाध्यः। जन्यसाक्षात्कारत्वाच्चाक्षुषसाक्षात्कारवत् । कणाद और गौतम ने मन के लिये जो प्रमाण दिये हैं, वे इस अनुमान से कहीं अधिक विश्वस्त हैं। कणाद का सूत्र है—आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षे ज्ञानस्य भावोऽभावश्च मनसो लिङ्गम्^१ अर्थात् कभी आत्मेन्द्रियार्थ सन्निकर्ष रहने पर भी पदार्थ का ज्ञान होता है और कभी नहीं। इस अन्वय-व्यतिरेक से मन की सत्ता सिद्ध होती है। गौतम का कहना है कि हमें बहुत से ज्ञान युगपत् नहीं हो सकते प्रत्युत क्रमशः होते हैं और यह इस बात का प्रमाण है कि मन अणु है और आणविक पदार्थ से एक साथ दो पदार्थों का सन्निकर्ष नहीं हो सकता। तुलना कीजिये—युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्^२।

जितने मनुष्य हैं प्रत्येक का पृथक्-पृथक् मन है। 'तच्च प्रत्यात्मनियतत्वात्' इत्यादि में वाक्यवृत्ति में नियत शब्द का यह अर्थ दिया गया है कि मन उन पदार्थों का जिनका आत्मा से समवाय सम्बन्ध है और उन पदार्थों का जिनका आत्मा से समावाय सम्बन्ध नहीं है, समान रूप से बोध कराता है—अत्र समवेतकारणत्वे सत्यसमवेतभोगकारणत्वं नियतत्वशब्दार्थः। सम्भव है कि नियत शब्द का यह अर्थ हो कि एक ही मन जन्म जन्मान्तर में आत्मा के साथ रहता है। क्योंकि यदि हम इस प्रकार नहीं मानें तो यह सम्भव नहीं होगा कि एक जन्म के संस्कार दूसरे जन्म में भी जाएं। यहां यह उल्लेख कर देना उचित होगा कि कुछ लोग मनस्त्व को जाति मानते हैं, कुछ नहीं मानते।

मन का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण गुण उसका अणुत्व है। क्योंकि आत्मा और बाह्य इन्द्रियों के बीच में सम्बन्ध स्थापित करने के लिये यह आवश्यक है। मीमांसक यह मानते हैं कि मन विभु है—मनो विभु। स्पर्शात्यन्ताभाववत्त्वादाकाशवत्, अथवा मनो विभु। विशेषगुणशून्यद्रव्यत्वात् कालवत्, अथवा मनो विभु। ज्ञानासमवायिकारणसंयोगाधारत्वादात्मवत्^३।

१. वैशेषिक सूत्र ७.२.१

२. न्यायसूत्र, १.१.१६

३. उपस्कारभाष्य, वैशेषिक सूत्र, पृ० १०२

दीपिका में यह युक्ति भी दी गई है कि यदि मन सर्वव्यापक है तो उसका सर्वव्यापक आत्मा से संयोग नहीं हो सकता और इस प्रकार ज्ञान की उत्पत्ति भी नहीं होगी, क्योंकि न्यायसिद्धान्त के अनुसार दो सर्वव्यापक पदार्थों का संयोग नहीं होता। यदि भीमांसक यह कहे कि वह इस सिद्धान्त को नहीं मानता तो दीपिका में इसका यह उत्तर है कि यदि सर्वव्यापक आत्मा का सर्वव्यापक मन से संयोग मान भी लिया जाय तो वह संयोग नित्य होगा और इस प्रकार निद्रा की सम्भावना नहीं रहेगी।

नैयायिकों का कहना है कि मन पुरीतत् नामक शरीर की एक नाड़ी में जब प्रविष्ट हो जाता है तो उसका आत्मा से संयोग नहीं रहता और इस लिए उस समय ज्ञान नहीं रहता। किन्तु यदि मन को सर्वव्यापक मान लें तो पुरीतत् में प्रविष्ट होने का प्रश्न नहीं आएगा क्योंकि सर्वव्यापक तो उसके अन्दर भी पहले से ही है और बाहर भी है। अतः संयोग नित्य बना ही रहेगा। किन्तु यहां नैयायिकों के सिद्धान्त में भी यह दोष आता है कि यदि मन अणुप्रमाण होने से पुरीतत् में पहले से नहीं होता, वहां बाद में प्रविष्ट होता है, तब भी आत्मा तो सर्वव्यापक होने के कारण, वहां पहले से ही होता ही है और इस प्रकार पुरीतत् में भी आत्मा और मन का संयोग बना ही रहेगा और वस्तुतः इस स्थिति में कठिनाई और भी बढ़ जाएगी क्योंकि नैयायिक यह भी नहीं कह सकता कि दो सर्वव्यापक पदार्थों का संयोग नहीं होता क्योंकि यहां तो मन सर्वव्यापक है ही नहीं। एक दूसरा कारण यह दिया जाता है कि पुरीतत् में त्वगिन्द्रिय नहीं है और मन को ज्ञान के लिये त्वग् का संयोग आवश्यक है—त्वङ्मनःसंयोगो ज्ञानसामान्ये कारणमित्यर्थः।^१ यहां यह कहा जा सकता है यदि इन्द्रियों का मन से संयोग नहीं रहता, तो आत्मा से संयोग होने पर भी उसे ज्ञान नहीं होता और निद्रा आ जाती है।

पुरीतत् हृदय के निकट एक नाड़ी मानी जाती है जिसमें निद्रा के समय मन चला जाता है। विनकर भट्ट ने इस प्रक्रिया को इन शब्दों में कहा है—
“प्रथमं सुषुप्त्यनुकूलमनःक्रियया मनसाऽऽत्मनो विभागाः, तत आत्ममनः-संयोग-नाशः, ततः पुरीतदात्मकोत्तरदेशेन मनसः संयोग उत्पद्यते; संब सुषुप्तिः”^२
नैयायिकों का यह पुरीतत् का सिद्धान्त बृहदारण्यक उपनिषद् में निम्न शब्दों में प्राप्त होता है—“अथ यदा सुषुप्तो भवति यदा न तस्य च वेद हिता नाम नाड्यो

१. न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, पृ० १२८

२. दिनकरीव्याख्या, पृ० १८४

द्व। सप्ततिसहस्राणि हृदयात् पुरीततमभिप्रतिष्ठन्ते ताभिः प्रत्यक्सूप्य पुरीतति शेते^१ इस श्रुति में यह कहा गया है कि शरीर की ७२,००० नाड़ियों में से होकर वह उसमें प्रविष्ट होकर मोता है। यहां 'वह' का अर्थ वेदान्ती जीव लगाते हैं और नैयायिक मन। वेदान्ती और योगी पुरीतत् को सुषुम्ना नाड़ी भी कहते हैं जो ब्रह्मरन्ध्र में मस्तिष्क के ऊपरी भाग में जाकर खुलती है और जिसके माध्यम से ज्ञानी की आत्मा शरीर को छोड़ती है^२। किन्तु नैयायिकों ने यहां जीव के स्थान पर मन को मान लिया क्योंकि उनके सिद्धान्त के यही अनुकूल पड़ता था। सम्भवतः निद्रा के समय शरीर की नाड़ियों में रक्त का प्रवाह शिथिल पड़ जाना और निद्रा के समय हृदय की गति का अपेक्षाकृत घीमा पड़ जाना इस सिद्धान्त की दृष्टभूमि में काम कर रहा होगा कि मन निद्रा के समय पुरीतत् में प्रविष्ट हो जाता है। किन्तु आधुनिक शरीर विज्ञान इसका समर्थन नहीं करता।

हमने ऊपर कहा कि मन की परिभाषा में इन्द्रिय शब्द का समावेश विचारणीय है। किन्तु इतना निश्चित है कि न्याय और वैशेषिक दोनों ही मन को इन्द्रिय मानते हैं। न्याय में तो ऐसा स्पष्ट कहा ही गया है, और वात्स्यायन ने गौतम सूत्र पर भाष्य करते हुए लिखा है कि—अप्रतिषिद्धमनुमतं भवति। अर्थात् क्योंकि कणाद स्पष्ट रूप में मन को इन्द्रिय मानने का निषेध नहीं करते, अतः वे भी इसे इन्द्रिय मानते ही हैं। आन्तरिक प्रत्यक्ष का करण होने के कारण मन इन्द्रिय है। वेदान्ती इस बात को नहीं मानते। इस सिद्धान्त का नैयायिकों की प्रत्यक्ष और अनुमान की परिभाषा और अन्य विषयों पर प्रभाव पड़ा है। नैयायिक प्रत्यक्ष की परिभाषा इस प्रकार करते हैं—इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यं ज्ञानम्। यदि मन को इन्द्रिय न माना जाय, तो सुख और दुःख का प्रत्यक्ष इस परिभाषा के अन्तर्गत नहीं आएगा^३। किन्तु यदि मन को इन्द्रिय मानें तो अनुमिति में भी अतिव्याप्ति होगी क्योंकि वहां धूम

१. बृहदारण्यकोपनिषद्, ४.१.१९

२. शाङ्करभाष्य, ब्रह्मसूत्र, ३.२.७

३. न्यायसूत्र, १.१.४, यहाँ इन्द्रिय तथा अर्थ के सन्निकर्ष से प्रत्यक्ष की उत्पत्ति मानी है। सुखादि का प्रत्यक्ष मन तथा सुखादि के सन्निकर्ष से होता है अतः मन को इन्द्रिय ही मानना चाहिये। सांख्यकारिका, २७ में भी मन को इन्द्रिय ही माना है—उभयात्मकमत्र मनः सङ्कल्पकमिन्द्रियञ्च साधर्म्यात्।

त्वप्रसङ्गात् । न च रूपवत्समवेतत्वं प्रत्यक्षत्वप्रयोजकं; गौरवात् । तस्मात् पटस्य प्रत्यक्षत्वानुपपत्त्या चित्ररूपसिद्धिः ॥ रूपस्याश्रयमाह—पृथिवीति । आश्रयं विभज्य दर्शयति— तत्रेति ॥

रूप

यहां 'मात्र' और 'गुण' इन दो पदों को छोड़कर रूप की परिभाषा वही दी है, जो प्रशस्तपाद में है।^१ ऐसा लगता है कि श्रीधर की टीका से ये शब्द ले लिये गये हैं।^२ 'मात्र' शब्द यहाँ संख्या में अतिव्याप्ति न हो जाये, इसलिए है, क्योंकि संख्या चक्षुर्ग्राह्य भी है और स्पर्शग्राह्य भी। 'गुण' शब्द द्वारा यहां प्रभा में जो कि एक द्रव्य है, अतिव्याप्ति का निराकरण है और साथ ही साथ रूपत्व जाति में भी, क्योंकि रूपत्व गुण नहीं है, जाति है, यद्यपि उसका भी ग्रहण चक्षु से ही होता है। प्रभाभित्तिसंयोग गुण है, किन्तु रूप नहीं है। इसलिये यहां गुण शब्द का अर्थ विशेष गुण लिया गया है,^३ यद्यपि दीपिका ने ऐसा नहीं किया। यह कहा जा सकता है कि संख्या में भी यहां अतिव्याप्ति की निवृत्ति गुण को विशेष गुण मानकर ही हो सकती थी, फिर 'मात्र' शब्द की क्या आवश्यकता है? किन्तु इसका उत्तर सिद्धान्तचन्द्रोदय ने यह दिया है कि यहां 'मात्र' शब्द इसलिये आवश्यक था कि सांसिद्धिकद्रवत्व में अतिव्याप्ति न हो। वाक्यवृत्ति का कहना है कि क्योंकि परमाणु का रूप चक्षुर्ग्राह्य नहीं है, अतः यह परिभाषा अपूर्ण है। वाक्यवृत्ति में परिष्कार करके यह परिभाषा दी है—त्वगग्राह्यचक्षुर्ग्राह्य-गुणविभाजकधर्मवत्त्वम् । त्वगग्राह्य का तो यहां वही प्रयोजन है जो ऊपर की परिभाषा में 'मात्र' शब्द का। गुणविभाजकधर्मवत्त्वम् का अर्थ है गुणत्वा-वान्तरजातिमत्त्वम्; क्योंकि परमाणु रूप यद्यपि चक्षुर्ग्राह्य नहीं है, किन्तु उसमें रूपत्व जाति अवश्य है।

यहां ग्रहण का अर्थ साधारण ग्रहण है, योगियों का अलौकिक ग्रहण नहीं। शंकरमिश्र ने रूप के ग्रहण के लिये चार शतों रखी हैं—१. महत्परिमाण, २. उद्भूतत्व, ३. अनभिभूतत्व, ४. रूपत्व।^४ परमाणुओं का रूप इसलिये नहीं

१. तत्र रूपं चक्षुर्ग्राह्यम्—प्रशस्तपादभाष्य, पृ० २५१

२. तेषां गुणानां मध्ये रूपं चक्षुषैव गृह्यते नेन्द्रियान्तरेण—न्यायकन्दली, पृ० २५१

३. न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, पृ० २४०-२४१

४. उपस्कारभाष्य, वैशेषिक सूत्र, ४.१.८ (पृ० १२०)

देखा जा सकता क्योंकि परमाणु में महत्त्व नहीं है। चक्षुओं की धवलता इसलिये नहीं देखी जा सकती, क्योंकि वह अनद्भूत है। सामान्य अग्नि में धवलता इसलिये नहीं देखी जा सकती कि वह पार्थिव तत्त्व से अभिभूत है। रस और स्पर्श इसलिये नहीं देखे जा सकते, क्योंकि उनमें रूपत्व जाति नहीं है।

आधुनिक वैज्ञानिकों में न्यूटन का कहना है कि प्रकाश की श्वेत किरण में ही समस्त रंग रहते हैं जिन्हें प्रिज्म की सहायता से पृथक् किया जा सकता है। जो पदार्थ जिस रंग को प्रतिबिम्बित करता है वही दिखाई देने लगता है और इस प्रकार पृथ्वी और जल का अपना रूप नहीं है प्रत्युत किरण के जिस रूप को वे प्रतिबिम्बित करते हैं, वही रूप उनमें दिखाई देने लगता है।

रूप के यहां सात भेद किये हैं। प्रशस्तपाद और श्रीधर ने इन भेदों का कोई निर्देश नहीं किया। यहां जो अन्त में चित्ररूप कहा गया है, उसके सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि वह प्रथम छः भेदों का ही मिश्रण है। यह आक्षेप हो सकता है कि यदि वह प्रथम छः रूपों का ही मिश्रण है तो उसके पृथक् मानने की क्या आवश्यकता है? दीपिका का कहना है कि रूप व्याप्यवृत्तिधर्म है और एक ही पदार्थ में अनेक रूप तो एकसाथ रह नहीं सकते अतः इसे पृथक् रूप मानना होगा। व्याप्यवृत्तिधर्म की परिभाषा यह है—स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगी धर्मः। अर्थात् ऐसा धर्म जो अपने अत्यन्ताभाव के साथ उस ही पदार्थ में नहीं रह सकता। इसके विपरीत अव्याप्यवृत्तिधर्म वे हैं जिनके भाव तथा अभाव अवच्छेदक भेद से एक ही पदार्थ में रह सकते हैं। इस प्रकार एक वृक्ष पर यदि कपि बैठा है तो उस वृक्ष का चोटी का हिस्सा कपिसंयोग वाला है पर उसकी जड़ में कपिसंयोग का अत्यन्ताभाव है। इसलिये कपिसंयोग अव्याप्यवृत्तिधर्म है। व्याप्यवृत्तिधर्म पदार्थ के अंश में नहीं रहता, प्रत्युत सर्वत्र रहता है। यदि चित्ररूप को पृथक् रूप में नहीं माना गया तो अंशों में रहने वाले भिन्न-भिन्न रूप तो होंगे, किन्तु समस्त पदार्थ में रहने वाला कोई एक रूप नहीं होगा। इस पर यह आक्षेप उठाया जाता है कि इसमें क्या हानि है? इस प्रकार हम वस्त्र को उसके अंश में रहने वाले भिन्न-भिन्न रूपों के माध्यम से देख लेंगे। किन्तु इसका यह उत्तर है कि इस प्रकार समस्त वस्त्र का ज्ञान कभी भी नहीं होगा,

यौकिक समस्त पदार्थ को बिना रूप के नहीं देखा जा सकता। वस्त्र के भिन्न-भिन्न भागों में रहने वाले रूप वस्त्र को दृश्य नहीं बनाते, किन्तु एक पृथक् ही रूप उसे दृश्य बनाएगा। नैयायिकों का यह सिद्धान्त है कि अपने अंशों से पृथक् समुदाय की कोई सत्ता नहीं होती। यदि हम इसको पृथक् सत्ता मानें तो इसे इनके अंशों से पृथक् एक कार्य मानना होगा और तब यह कहाँ रहेगा? न तो यह एक-एक भाग में रह सकता है, न मिलाकर उन सब भागों में, क्योंकि यह उन सब से पृथक् है। इस प्रकार समुदाय एक पर्याप्त धर्म है अर्थात् अनेक धर्मों का समूह है किन्तु एक पृथक् पदार्थ नहीं है। इस प्रकार अनेक रूपों का समुदाय स्वयं एक गुण नहीं बन सकता और इसलिए वहाँ एक पृथक् चित्र रूप मानना होगा। यह कहा जा सकता है कि किसी पदार्थ के दृश्य होने के लिये रूपवस्त्र नहीं, प्रत्युत रूपवत्समवेतत्व आवश्यक है। अतः वस्त्र में चाहे अपना रूप न हो, किन्तु यह उन अंशों से समवेत अवश्य है, जो रूपवान् हैं। किन्तु यह कहा जाता है कि रूपवत्समवेतत्व में अनावश्यक गौरव है अर्थात् ऐसा मानना प्रक्रिया को व्यर्थ ही लम्बा बना देता है। अतः चित्र रूप को पृथक् ही मान लेना चाहिए।

रूप की जो परिभाषा यहाँ दी है, उससे यह स्पष्ट हो जाएगा कि यहाँ आकार को अर्थात् गोलाई, लम्बाई इत्यादि को रूप नहीं माना है; क्योंकि आकार न तो सात रूपों में से एक है, और न चक्षुमानब्राह्मण क्योंकि इसे स्पर्श से भी जाना जा सकता है। नैयायिक आकार को अवयवसंस्थानविशेष कहते हैं और इस प्रकार इसका संयोग में समावेश करते हैं। वेदान्तियों का कहना है कि आकार पदार्थ से भिन्न नहीं है, क्योंकि अवयव संस्थान के भिन्न होने पर भी हम खड़े हुए देवदत्त को देख लेने के बाद बैठे हुए देवदत्त को भी पहचान लेते हैं।

पृथ्वी में सभी रूप हैं किन्तु जल और प्रकाश में केवल शुक्ल है। किन्तु प्रकाश की शुक्लता जल की शुक्लता से भिन्न है। इस प्रकार यहाँ शुक्ल के भास्वर और अभास्वर दो भेद कर दिये हैं। भास्वर शुक्ल तेज का है और अभास्वर शुक्ल जल का। इस सम्बन्ध में हम आधुनिक विज्ञान का सिद्धान्त पहले ही बता चुके हैं कि विज्ञान केवल प्रकाश में ही रूप मानता है; जल और पृथ्वी का कोई अपना स्वतन्त्र रूप नहीं मानता है।

रसनग्राह्यो गुणो रसः । स च मधुराम्ललवणकटुकषायतिक्तभेदात् षड्विधः । पृथिवीजलवृत्तिः, पृथिव्यां षड्विधः, जले मधुर एव ॥